॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१५८

श्रीईश्वरकृष्णविरचिता
गौडपादभाष्यसहिता

सांख्यकारिका

'भाष्यभाववर्णिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः
न्यायाचार्य-पोष्टाचार्य-
पं० श्रीज्वालाप्रसाद गौड
वाराणसीस्थ-श्रीसंन्यासि-संस्कृत-महाविद्यालयप्राध्यापकः

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१५८

श्रीईश्वरकृष्णविरचिता

गौडपादभाष्यसहिता

सांख्यकारिका

'भाष्यभाववर्णिनी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः

न्यायाचार्य–पोष्टाचार्य–

पं० श्रीज्वालाप्रसाद गौड़

वाराणसीस्थ–श्रीसंन्यासि-संस्कृत-महाविद्यालयप्राध्यापकः

Bharatiya Vidya Bhavan's Sri Sankaracharya S... Mahavidyalaya
146

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पोस्ट बाक्स नं० १०६९

वाराणसी–२२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

सर्वाधिकार सुरक्षित

पुर्नमुद्रित संस्करण २००१

मूल्य ४०-००

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड,

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरध्वनि : २३६३९१

...an's Sri Sankarach...
Bharatiya Vidya...

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० ११२९

वाराणसी–२२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
158

SĀMKHYAKĀRIKĀ

OF

ĪŚWARAKṚṢṆA

Containing

GAUḌAPĀDABHĀṢYA

Edited with
'Bhashyabhavavarnini' Sanskrit & Hindi Commentaris

By

Pt. Jwala Prasad Gaud

Ex Professor, Sanyasi Sanskrit Mahavidyalaya, Varanasi

Bharatiya Vidya Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
146

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 63076

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

भूमिका

प्रारंभ से ही दर्शन दो धाराओं में विभाजित हुए देखने में आ रहे हैं। जिनमें एक भारतीय दर्शन-धारा है और दूसरी पाश्चात्त्य दर्शन-धारा है। भारतीय दर्शन-धारा भी दो धाराओं में विभाजित है; आस्तिक दर्शनधारा तथा नास्तिक दर्शन-धारा। इनमें छः आस्तिक दर्शन हैं और छः ही नास्तिक दर्शन हैं। "नास्तिको वेदनिन्दकः" अर्थात् वेदोक्तमार्ग का समर्थन करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। और जो दर्शन वेदोक्त परलोक एवं ईश्वर आदि का खण्डन करने वाले हैं, उन्हें नास्तिक दर्शन कहते हैं। कहा भी है—

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः ॥

न्याय-वैशेषिक-वेदान्त-मीमांसा-सांख्य और योग ये छः आस्तिक दर्शन हैं। और जैन-चार्वाक-माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक ये छः नास्तिक दर्शन हैं। इसके अतिरिक्त माध्व-रामानुज-निम्बार्क-वल्लभ-शैवागम एवं पूर्णप्रज्ञ आदि दर्शनों का इन्हीं दर्शनों में अन्तर्भाव हो जाता है।

दर्शन शब्दार्थ

"दृश्यते=ज्ञायते=विचार्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय अर्थात् सद्-असद् वस्तु का विचार किया जाय उसे दर्शन कहते हैं। किसी वस्तु के तात्त्विक अर्थात् सच्चे स्वरूप को जान लेना ही दर्शन शब्द का अर्थ=प्रयोजन माना गया है। यह दृश्यमान चराचर विश्व सत्य है कि मिथ्या है, जड़ है कि चेतन है, प्रकाश है कि अन्धकार है, सुख-दुःख आदि के द्वन्द्व से रहित है अथवा सहित है, आधि-व्याधि-जरा और मरण की भीषण कथा की व्यथा से समन्वित है अथवा निरन्वित है, इत्यादि विषयों का विचार भी दर्शनशब्दार्थ के अन्तर्गत ही माना गया है। संसार क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? यह नित्य अथवा अनित्य है? संसार के अन्दर रहकर सुन्दर एवं सुखपूर्वक जीवन बिताने का क्या साधन है? इत्यादि समस्त विषय भी दर्शनशास्त्रगम्य ही हैं।

दर्शन भी एक शास्त्र है। जैसे व्याकरण-साहित्य एवं ज्योतिष आदि स्वतंत्र शास्त्र हैं, उसी प्रकार दर्शन को शास्त्र की संज्ञा प्रदान की गयी है—

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।

यहाँ पर 'शास्' धातु का अर्थ आदेश प्रदान करना, आज्ञा देना आदि माना गया है। और 'शंस्' धातु का अर्थ विचार करना, निरूपण करना, प्रतिपादन करना आदि माना गया है। यह 'शासन' शास्त्र भी विधि-निषेधात्मक दो प्रकार का होता है। "स्वर्गकामो यजेत" यह विधिशास्त्र है। और "न कलञ्जं भक्षयेत्" निषेधशास्त्र है। एवं "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" यह विधिशास्त्र है, "मां हिंस्यात् सर्वभूतानि" यह निषेधशास्त्र है। दर्शन भी शास्त्र है, इसी दृष्टिकोण के आधार पर कुछ विद्वानों ने व्याकरण एवं साहित्य आदि शास्त्रों को भी 'दर्शन' की संज्ञा प्रदान की है। जैसे—न्यायदर्शन-मीमांसादर्शन-सांख्यदर्शन आदि दर्शनों को दर्शन संज्ञा प्रदान की गयी है और वह स्वाभाविक है। दर्शन इस चराचर दृश्यमान मिथ्याजगत् के अन्दर सत्य की खोज करता है एवं इस मिथ्या जगत् के आधारभूत उस वास्तविक तत्त्व का पता लगाता है। अनेक में एक का असद् में सत् का अन्वेषण करता है। इस दृश्यादृश्य जगत् के अन्तर्यामी परमतत्त्व ईश्वर का अनुसन्धान करता है।

सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शन समस्त भारतीय दर्शनों में एक अत्यन्त ही प्राचीन दर्शन है। इस दर्शन के जन्मदाता महामुनि कपिल हैं। संख्या के प्राधान्य के आधार पर ही इस दर्शन को सांख्यदर्शन की संज्ञा प्रदान की गयी है। संख्या नाम दो का है—

(१) एकत्व-द्वित्व-त्रित्व-बहुत्व आदि के व्यवहार के कारणीभूत गुणविशेष को संख्या माना है, यह पक्ष तो सार्वजनीन है अर्थात् सभी लोग एक, दो, तीन, चार एवं बहुत आदि का व्यवहार करते हैं।

"एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या"

संख्या का दूसरा अर्थ अथवा नाम विवेकज्ञान भी है। यहाँ से दोनों ही अर्थ अथवा नाम संगत हैं। सांख्यदर्शन में ही सर्वप्रथम पञ्चविंशति तत्त्वों का परिगणन किया गया है, वह पदार्थपरिगणन भी मोक्ष का प्रापक है और विवेकज्ञान भेदज्ञान का नाम है, वह प्रकृति और पुरुष का भेदाज्ञाननिबन्धन यह संसार

है। और जिस समय हम प्रकृति और पुरुष के विषय में भेद को जान लेते हैं कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है उस समय हमारे लिये संसार का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। यह विवेकज्ञानरूप भेदज्ञान भी इसी की विशेषता है। कहा भी है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ ६४॥

इस प्रकार सांख्यशास्त्र के अन्दर निर्दिष्ट पञ्चविंशति पदार्थतत्त्वों का तथा उनके अवान्तर भेदों का श्रद्धापूर्वक बराबर अभ्यास करते-करते संशय एवं भ्रम से शून्य होने के नाते विशुद्ध प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान=भेदज्ञान अर्थात् प्रत्यक्षात्मक कैवल्यज्ञान हो जाता है जिससे जीव सांसारिकबन्धनों से सर्वदा के लिये छुटकारा प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान की प्रधानता के कारण इस दर्शन का नाम सांख्यदर्शन पड़ा।

सांख्यतत्त्वमीमांसा

इस सांख्यदर्शन के अन्दर पच्चीस तत्त्वों का अङ्गीकार किया जाता है। और उनकी मीमांसा भी बड़े ही अच्छे ढंग से इस दर्शन के अन्दर की गयी है। इन्हीं पञ्चविंशति पदार्थों के ज्ञान से जीव आध्यात्मिक-आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से सर्वथा छुटकारा प्राप्त कर लेता है। सांख्य ने इन तीनों दुःखों के विनाश का कारण इसी विवेकज्ञान को अन्त में स्वीकार किया है। जैसे कि—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

इससे तो केवल दुःखत्रय के विनाशकारणीभूत वस्तु में जिज्ञासा का प्रदर्शन बतलाया। वह दुःखत्रय से विनाश का कारण कौन है, इसका स्पष्टीकरण ईश्वरकृष्ण ने आगे की कारिका में किया है—

"सद्विपरीत श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्"

इस प्रकार व्यक्त-अव्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (पुरुष) इनके भेदज्ञान से ही दुःखत्रय से छुटकारा प्राप्त होता है।

इन पच्चीस प्रकार के पदार्थों का अन्तर्भाव ईश्वरकृष्ण ने केवल चार पदार्थों में ही कर दिया है। जैसे कहा भी है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडषस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात् सांख्यदर्शन के अन्दर तात्त्विकदृष्टि से विचार करने पर संक्षेपतः चार प्रकार के पदार्थ ही ठहर पाते हैं—

(१) सर्वप्रथम पदार्थ प्रकृति[1] ही है जो कि इस दृश्यमान जगत् का मूल-कारण होने के नाते जनक है परन्तु जन्य नहीं है, वह नित्य है। सांख्य ने प्रकृति पुरुष और इन दोनों के संयोग को नित्य माना है। इस प्रकार सांख्य-दर्शन के अन्दर ये तीन ही नित्य पदार्थ हैं।

(२) दूसरा पदार्थ "विकृति" है। विकृति नाम है कार्य का। विकृति-भूत पदार्थ का लक्षण है—"जन्यत्वे सति तत्त्वान्तरानारम्भकत्वम्" अर्थात् जो पदार्थ किसी से उत्पन्न होने वाला तो अवश्य हो परन्तु किसी भी दूसरे पदार्थ का उत्पादक न हो सकता हो। जैसे—सांख्यमतसिद्ध षोडशपदार्थ। पांच ज्ञाने-न्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच महाभूत, और एक मन।

(३) कोई पदार्थ प्रकृति-विकृति उभयरूप है। इसका लक्षण है—"जन्यत्वे सति जनकत्वम्" अर्थात् जो जन्य भी हो और जनक भी हो। जैसे पांच तन्मात्राएँ महत्तत्त्व और अहङ्कारतत्त्व। ये किसी के तो जन्य हैं और किसी के जनक भी हैं।

(४) और चतुर्थ पदार्थ सांख्यदर्शन में विलक्षण ही है। जो न तो किसी से जन्य ही है और न किसी का जनक ही है, जैसे—पुरुष। सांख्य ने पुरुष (जीव) को पुष्करपलास के समान निर्लेप माना है।

सांख्यदर्शन की प्राचीनता

छः प्रकार के पूर्वोक्त आस्तिकदर्शनों में सांख्यदर्शन बहुत ही प्राचीन दर्शन है। इसी लिये सभी दर्शनों में इसका गौरव और महत्त्व माना जाता है। इसके मूलभूत सिद्धान्त प्रायः उपनिषदों में पाये जाते हैं। सांख्यदर्शन ने कार्य और कारण को त्रिगुणात्मक स्वीकार किया है। सांख्यशास्त्रवेत्ता विद्वानों का कहना है कि हम संसार को अथवा संसार के समस्त पदार्थों को सुख-दुःख-मोहरूप अर्थात् त्रिगुणात्मक पाते हैं इसलिये उसका कारण भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिये। इसीलिये उन्होंने प्रकृति को ही जगत् का कारण माना है, कारण कि वह सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण त्रिगुणात्मक है, पुरुष वैसा न होने से कारण

---

[1] प्रकृति का लक्षण है अजन्यत्वे सति जनकत्वम् अर्थात् जो किसी का कार्य तो न हो परन्तु कारण अवश्य हो।

नहीं हो सका। छान्दोग्योपनिषद् में इन तीनों गुणों का वर्णन बहुत ही अच्छे ढंग से किया है। इसके अतिरिक्त गीता में भी इसका महत्त्व वर्णित है। बौद्धदर्शन के महाविद्वान् अश्वघोष ने स्व-रचित 'बुद्धिचरित' महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के गुरु को सांख्यशास्त्र का ज्ञाता बतलाया है। इतना ही नहीं, उन्होंने निष्पक्षभाव की दृष्टि से यह भी बतलाया कि सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल गौतम बुद्ध से भी प्राचीन थे। महाभारत के शान्तिपर्व में भी सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि का निरूपण ठीक सांख्यदर्शन की प्रक्रिया से सम्मत है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी सांख्यदर्शन के मूलभूतसिद्धान्त उपलब्ध हैं। श्रीमद्भागवत में भी जिस स्थल में महामुनि कपिल तथा देवहूति का संवाद आता है उस स्थल में सांख्य के पदार्थों का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है।

सांख्यदर्शन की प्राचीनता के विषय में अधिक क्या कहा जाय, पाश्चात्य दार्शनिक विद्वान् श्री याकोबी ने भी स्पष्ट कहा है कि सांख्यदर्शन की प्राचीनता अक्षुण्ण एवं निर्विवाद है। सांख्यदर्शन सब दर्शनों में प्राचीन है इसमें किसी को भी मतभेद खड़ा ही नहीं करना चाहिए, और न किसी भी प्रकार का संशय विपर्यय अथवा विपरीतोद्भाव ही करना चाहिये।

देखने से भी इसकी प्राचीनता स्पष्ट है कि उपनिषदों में, पुराणों में, स्मृतिग्रन्थों में, धर्मग्रन्थों में एवं बौद्धग्रन्थों में सर्वत्र ही सांख्यदर्शन की चर्चा एवं पदार्थों का उल्लेख पाया जाता है। बौद्धआगमों में भी सांख्यदर्शन के कार्यकारणभाव सत्कार्यवाद आदि बहुत से सिद्धान्तों के निराकरण करने की चेष्टा की गयी। अन्त में, उनका वह प्रयास सर्वथा असफल ही रहा। प्राचीन वस्तु का ही उत्तरकालीन ग्रन्थों में, शास्त्रों में एवं आख्यायिकाओं में उल्लेख पाया जाता है। इससे इसकी प्राचीनता एवं महत्त्व तथा गौरव स्पष्ट है।

सत्कार्यवाद

कार्यकारणभाव एक सर्वसाधारण विषय है। कार्य को देखकर प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में इस प्रकार की विचारधारा उत्पन्न होती है कि इसका कोई कारण अवश्य ही होगा।

"अस्य अवश्यं किमपि कारणमस्ति इत्येतादृशानुभूतिबलात् सामान्यतः कारणस्य प्रतीतिर्भवति इदमेव अस्य कारणमिति रीत्या विशेषतः कारणं न प्रतीयते।"

इस कार्यकारणभाव के विषय में वादी लोगों की बहुत-सी विप्रतिपत्तियाँ हैं। जैसे बौद्धविद्वानों का कहना है कि असत् कारण से सत्कार्य उत्पन्न होता है। अर्थात् खेत में जब बीज डाला, उसके बाद जब तक उस बीज का ध्वंस नहीं हो जायगा तब तक उससे अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है, अतः बीज का ध्वंस=अभाव ही अंकुरोत्पत्ति में कारण है, स्वयं बीज नहीं। इसलिए विनष्ट बीज अर्थात् असद् बीज ही अंकुरोत्पत्ति करने में समर्थ हो सकता है। इससे स्पष्ट है, असत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वेदान्ती लोगों ने एक सद्ब्रह्म का विव इस विश्व को माना है। जगत् का कारणीभूत ब्रह्म सत् है और उसका कार्य यह चराचर विश्व असत् है। इस प्रकार इनके मतानुसार सत् से असत् की उत्पत्ति होती है।

नैयायिक तथा वैशेषिकों का कहना है कि सत् कारण से ही असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। इनके यहाँ परमाणुओं को ही जगत् का कारण माना है। वे नित्य होने के कारण सत् हैं। और उनसे उत्पन्न होने वाले पृथिवी, जल आदि प्रलय में नष्ट हो जाने के नाते असत् हैं। इसलिये इनके यहाँ सत् से असत् की उत्पत्ति होती है यह कहिये, अथवा नित्य से अनित्य की उत्पत्ति होती है, यह भी विनिगमनाविरहप्रयुक्त कह सकते हैं। सांख्यों का कहना है कि कारण भी सत् है, और कार्य भी सत् है। सांख्यमत में भावात्मक नित्य प्रकृति ही जगत् का कारण मानी गयी है। और कार्य अनागत अवस्था से ही कारण के अन्दर पहिले से ही विद्यमान है। कारणसामग्री किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं करती है बल्कि वह सामग्री कार्य की अभिव्यक्ति करती है। उत्पत्ति से पहिले भी कार्य अपने कारण के अन्दर अव्यक्तरूप से विद्यमान है। इसलिए कार्य और कारण में वास्तव में अभेद है। कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम कारण है। तथा कारण की व्यक्तावस्था का नाम कार्य है। अवस्थामात्र का भेद है, कार्य और कारण में भेद नहीं है। अतः इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जब कारण नित्य होने के नाते सत् है तो उससे अभिन्न कार्य को असत् कैसे कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सांख्यशास्त्रियों ने कार्य को सत् सिद्ध करने के लिए पाँच हेतुओं वाले अनुमान का भी प्रदर्शन किया है। अर्थात् कारण के व्यापार से पहिले भी कार्य सत् है। इसी अनुमान को सांख्यकारिका के रूप में दिखलाया है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥

अर्थात्—

(१) कार्यं सत् असदकरणात् ।
(२) कार्यं सत् उपादानग्रहणात् ।
(३) कार्यं सत् सर्वसम्भवाभावात् ।
(४) कार्यं सत् शक्तस्य शक्यकरणात् ।
(५) कार्यं सत् कारणभावात् (कारणात्मकत्वात्) ।

इनका विशेष विवेचन वाचस्पति की कौमुदी टीका में देखा जाय ।

सांख्यदर्शन की उपयोगिता

सांख्यदर्शन के विषय में कुछ विद्वानों का ऐसा कहना है कि सांख्यदर्शन के साथ जब कि योगदर्शन की पूर्णरूप से एकवाक्यता है अर्थात् सांख्यदर्शन में उल्लिखित सभी पदार्थ योगदर्शन में ज्यों के त्यों स्वीकृत हैं तब फिर क्या आवश्यकता है सांख्यदर्शन की ? क्यों कि सांख्यदर्शन तो योगदर्शन से ही गतार्थ हो जाता है ।

इसके कई उत्तर दिये गये हैं जिनमें एक उत्तर यह भी है कि एकवाक्यता पदार्थों अथवा विषय की कुछ ही अंश में है, न कि सर्वांश में । इस प्रकार की एकवाक्यता तो कुछ अंश को लेकर सर्वत्र ही हो सकती है, तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह सर्वथा इतर से गतार्थ ही हो जायगा । और गतार्थ हो हो जाने से इतर को वैयर्थ्य की आपत्ति दे दी जाय, इत्यादि ।

सांख्य में पञ्चविंशतिपदार्थों के ज्ञान को ही एकमात्र मुक्ति-साधन बतलाया है और योगदर्शन में योगक्रियाजन्यज्ञान मोक्ष का साधन है ।

इस प्रकार सांख्यदर्शन के अन्दर ज्ञान की प्रधानता है और योगदर्शन के अन्दर क्रिया की प्रधानता है, इस प्रकार साधनों में भेद स्पष्ट है । दूसरी बात यह कि सांख्यदर्शन के अन्दर आत्मतत्त्व का विवेचन अवश्य है परन्तु वह आत्मतत्त्व जीव हैं न कि ईश्वर । ईश्वर का तो सांख्य में उल्लेख ही नहीं मिलता है । इसी लिये यह दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन कहलाता है । ईश्वर को लेकर योगदर्शन में पदार्थों की गणना छब्बीस हो जाती है और सांख्यदर्शन में वही पच्चीस को पच्चीस ही है । इसके अतिरिक्त दोनों दर्शनों में विषय का भी वैषम्य है । योगदर्शन में सर्वप्रथम चित्त की वृत्ति के निरोध को योग बतलाते हुए उन्होंने

वृत्तिनिरोध के साधनों का आमूल उल्लेख किया है जो कि सांख्यदर्शन में सर्वथा अनुपलब्ध है।

कुछ दार्शनिकों ने सांख्यदर्शन के विषय में अवैदिकत्व की आशंका की कि इसमें ईश्वर का निरूपण नहीं है इसलिये यह दर्शन भी निरीश्वरवादी दर्शन होने के नाते चार्वाक आदि दर्शनों के समान नास्तिक दर्शन है, अतः उन दर्शनों के समान यह भी अवैदिक दर्शन है, इत्यादि रूप से बहुत से आक्षेप-विक्षेप इसके ऊपर किये गये।

परन्तु इस प्रकार के आक्षेप सर्वथा निर्मूल होने के नाते सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण हैं। क्योंकि हमारे यहाँ नास्तिक की परिभाषा "नास्तिको वेदनिन्दकः" इस रूप से वेद की निन्दा करने वाले को लक्ष्य बनाकर ही की गयी है। यह दर्शन न तो स्वयं वेदनिन्दक है और न इसका अध्ययन करने वाले ही वेदनिन्दक हैं। तब फिर इसे नास्तिकदर्शन कहना दूसरे लोगों की आँखों में धूल झोंकना है। इस प्रकार धूल झोंककर उन्हें भ्रमान्धकार में डालना है।

दूसरी बात यह भी है कि इस सांख्यदर्शन के आदि जन्मदाता महामुनि कपिल ने स्वयं वेदों के प्रामाण्य का अङ्गीकार किया है। सांख्यसूत्र के प्रथम अध्याय तथा तृतीय अध्याय में स्पष्टरूप से ईश्वर की सत्ता का उल्लेख मिलता है। सांख्यकारिका अथवा सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थों में ईश्वर का उल्लेख नहीं है तो निषेध भी नहीं है। इस प्रकार हो सकता है कि विषयान्तर विषयक अपेक्षाबुद्धि होने के कारण ईश्वर की तरफ से उपेक्षाबुद्धि हो गयी हो, विषयान्तर विषयक अपेक्षाबुद्धि ईश्वरविषयक अपेक्षाबुद्धि की प्रतिबन्धक बन गयी हो, इत्यादि बहुत से कारण हो सकते हैं।

"ईश्वरासिद्धेः" इस सांख्यसूत्र के आधार पर जो ईश्वर के अभाव का अथवा ईश्वर के अस्तित्वाभाव का निश्चय कर बैठते हैं, वे भी सर्वथा भ्रान्त हैं। कारण कि सूत्र में तो ईश्वर की असिद्धि=अनिश्चय का प्रदर्शन किया है न कि उसके अभाव का। असिद्धि तो कारणान्तरप्रयुक्त भी हो सकती है।

एक बार मैं अँधेरी कोठरी में सो रहा था, कई लोग मुझे देखने और पूछने को आये। सबको मना कर दिया कि नहीं हैं। मुझे उस अँधेरी कोठरी में भी देखा परन्तु अन्धकार होने के कारण मैं न दीख सका। मेरी चाक्षुषप्रत्यक्षात्मिका सिद्धि उन्हें न हो पायी। इसका एकमात्र कारण आलोकसंयोग का न होना ही हो सकता है। क्यों कि चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतरूपा-

वच्छिन्न-आलोकसंयोगावच्छिन्न चक्षुःसंयोग को सिद्धान्ततः कारण माना गया है। प्रकृत में आलोकसंयोगावच्छिन्नत्वरूपविशेषण से विशिष्ट चक्षु अथवा चक्षुःसंयोग नहीं है इसलिये दोष नहीं है। जिस प्रकार यहाँ आलोकसंयोगरूप कारण मेरी असिद्धि का हेतु हो रहा है, परन्तु वह मेरे अभाव का अथवा मेरे अस्तित्व के अभाव का कारण नहीं है, उसी प्रकार 'ईश्वरासिद्धेः' इस सूत्र में भी समझना चाहिये।

दर्शनों में वैषम्य क्यों ?

हमारी मूलभूत संस्कृति के आधार वेद हैं। वेदों के अन्दर आध्यात्मिक विज्ञान का तथा उससे सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। साधारणरूप से वेदों में आत्मज्ञान-ईश्वरज्ञान-तत्त्वज्ञान-ब्रह्मज्ञान एवं अहिंसा-सत्य-तप-ब्रह्मचर्य-भक्तिधर्म-योग एवं यज्ञ आदि विषयों का वर्णन बड़े ही सुचारु ढंग से किया गया है। उसमें भी सभी विषय तो सबको अभिप्रेत नहीं होते हैं, किन्तु उनसे जो विषय जिसको मुख्यरूप से अभिप्रेत होता है वह व्यक्ति उसी विषय को लक्ष्य कर प्रवृत्तिशील बनता है। और उसी की प्राप्ति तथा उसी की सिद्धि के लिये सर्वथा अपने अन्तःकरण का, बुद्धि का तथा शरीर एवं बाह्य इन्द्रियों का प्रयोग भी करता है। महामुनि कपिल को तत्त्वज्ञान अपेक्षित था, पतञ्जलि को योग, कणाद और गौतम को पदार्थतत्त्व, जैमिनि को योग आदि सत्कार्यकलाप, मनु को धर्म, महर्षि देवव्यास जी को ब्रह्मज्ञान, नारद जी को भक्ति और मनु को धर्म इत्यादि विषय प्रिय एवं अभिप्रेत थे। वे उन्हीं अपने-अपने विषयों में प्रवृत्तिशील भी रहते थे। कारण कि ये सभी विषय मोक्ष के प्रति साक्षात् परम्परया कारण माने गये हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इन्हीं विषयों के आधार पर विभिन्न दर्शनों का निर्माण किया है।

कणाद गौतम को पदार्थवाद ही प्रिय और अभिप्रेत था इसलिये उन्होंने पदार्थशास्त्र न्याय तथा वैशेषिक का प्रणयन किया। महर्षि व्यास जी को आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्रिय था। उन्होंने तदनुकूल ही वेदान्तदर्शन का प्रणयन कर दिया। जैमिनि को यागादिसत्-कर्मकलाप अपेक्षित था इसलिये उन्होंने मीमांसादर्शन की रचना की। भगवान् मनु को धर्म प्रिय था इसलिये उन्होंने तदनुकूल मनुस्मृति की रचना कर दी। भगवान् पतञ्जलि को योग प्रिय था इसलिये उन्होंने योगदर्शन का ही स्वतन्त्ररूप से निर्माण कर डाला। इसी प्रकार हमारे

महामुनि श्री कपिल जी को पञ्चविंशति तत्त्वज्ञान अपेक्षित था, तदनुकूल उन्होंने सांख्यदर्शन का निर्माण कर दिया। इस प्रकार अपना-अपना लक्ष्य पूरा करने के लिये इन भिन्न-भिन्न ऋषि-महर्षियों ने यथा शक्ति भिन्न-भिन्न शास्त्रों का, दर्शनों एवं ग्रन्थों का प्रणयन कर डाला। यही दर्शनों के वैषम्य का प्रधान कारण है। और दर्शनों का यह परस्पर का वैषम्य ही उनकी विभिन्नता का कारण है। इसी लिये कहा भी है—

श्रुतयोऽपि भिन्नाः स्मृतयोऽपि भिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ॥

अन्त में कहा है कि—"महाजनो येन गतः स पन्था।"

अपने-अपने द्वारा रचित शास्त्र के प्रामाण्य को स्वीकार करके इन लोगों ने आगे कदम बढ़ाया। और इनके द्वारा रचित इन शास्त्रों का प्रामाण्य समस्त आस्तिक जनताजनार्दन ने स्वीकार किया। भगवान् कृष्ण ने भी उस प्रामाण्य को स्वीकार करते हुये स्वयं कहा है—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"

इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न विषयों के विवेचन के कारण विषयों के वैषम्य प्रयुक्त दर्शनों में विभिन्नता एवं विषमता पायी जाती है। विषयों की परस्पर में विभिन्नता एवं विषमता ही दर्शनों के भेद और वैषम्य का कारण है।

—ज्वालाप्रसाद गौड़

गौडपादभाष्यसहिता

सांख्यकारिका

'भाष्यभाववर्णिनी' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेता

● ●

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

● गौडपादभाष्यम् ●

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाविद्योदधौ जगति मग्ने ।
कारुण्यात् सांख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय[1] ॥ १ ॥
अल्पग्रन्थं स्पष्टं प्रमाणसिद्धान्तहेतुभिर्युक्तम्[2] ।
शास्त्रं शिष्यहिताय समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥

दुःखत्रयेति । अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते[3] । इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम, तद् यथा—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ॥

---

१. सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रिगुणैः प्रतायमानेऽमुष्मिन्मायाप्रपञ्चे निमज्जतां प्राणिनामुद्धरणार्थं 'संख्यां प्रकुर्वते चैवं प्रकृति च प्रचक्षते । चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥' इत्याद्युक्तदिशाऽन्वर्थसंज्ञा सांख्यदर्शनात्मिका नौरिव येन महर्षिणा विनिर्मिता तस्मै नम इति भावः ।

२. दृष्टादीनि प्रमाणानि सत्कार्यवादादिरूपाः सांख्यसिद्धान्ताः अव्यक्तादिप्रमेयसाधकहेतवश्च तैर्युक्तमित्यर्थः ।

३. प्रासङ्गिकं पीठमारच्यत इत्यर्थः

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्च' इति एवं स 'उत्पन्नः' सन् अन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणाय इदं पञ्चविंशतितत्वानां ज्ञानम्, उक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ।

तदिदमाह—**दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति** । तत्र दुःखत्रयम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं—शारीरं मानसं चेति । शारीरं वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि । मानसं प्रियवियोगाप्रियसंयोगादि । आधिभौतिकं चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं[1] मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते । आधिदैविकं—देवानामिदं दैवम्, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य[2] यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम् ।

एवं यथा दुःखत्रयाभिघाता[3]ज्जिज्ञासा कार्या । क्व? तदभिघातके हेतौ । तस्य दुःखत्रयस्य अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्रेति । 'दृष्टे सापार्था चेत्' दृष्टे हेतौ दुःखत्रयाभिघातके सा जिज्ञासाऽपार्था चेद् यदि, तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया प्रियसमागमाप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायक्वाथादिभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपायः, आधिभौतिकस्य[4] रसादिनाऽभिघातो दृष्टः, दृष्टे साऽपार्था चेदेवं मन्यसे; न, **ऐकान्तात्यन्ततोऽभावात्** । यत एकान्ततोऽवश्यमत्यन्ततो नित्यं दृष्टेन हेतुनाऽभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र[5] एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा विविदिषा कार्येति ॥ १ ॥

---

[1] अनुपदवक्ष्यमाणजरायुजादि-चतुर्विधभूतसमुदायोत्थम् ।

[2] तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः ।

[3] इत्युक्तदुःखत्रयाभिसम्बन्धादित्यर्थः ।

[4] निरत्ययस्थानवासनीतिशास्त्रानुसरणादिरूपरक्षादिनेत्यर्थः । इदमुपलक्षणम्—आधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौषधादिनाऽभिघातो द्रष्टव्यः । पूर्वपक्षमुपसंहरति—दृष्ट इति ।

[5] पूर्वोक्तदृष्टोपायाद्भिन्ने सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानरूप इत्यर्थः ।

● भाष्यभाववर्णिनी ●

यदज्ञानप्रभावेण भासते सकलं जगत् ।
यज्ज्ञानाच्छ्रेय आप्नोति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥

अन्वयः—-दुःखत्रयाभियातात् तदपघातके, हेतौ, जिज्ञासा (भवति) दृष्टे सा, अपार्था, चेत्, न एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात् ।

व्याख्या—दुःखानां 'त्रयं' दुःखत्रयम्, 'तच्च' आध्यात्मिकम्-आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्च, तेषाम् (आत्मनि) अभिघातात् = सम्बन्धात् । तदपघातके = तस्य दुःखत्रयस्य, अपघातके, विनाशके । हैतौ = कारणे । जिज्ञासा = दुःखत्रयस्य 'विनाशकारणं किमिति' ज्ञातुमिच्छा (भवतीति शेषः) । दृष्टे = दृष्टोपाये अर्थात् 'औपधसेवनात्मके, कामिन्या उपभोगात्मके' च 'दृष्टकारणे' सति । सा= जिज्ञासा । अपार्था=निरस्ता (भवेत्) । चेत् । न । एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात्= एकान्तम्–दुःखनिवृत्तेरवश्यंभावः, अत्यन्तम्–निवृत्तस्य 'दुःखस्य' पुनरनुत्पत्तिः तयो अभावात् । अर्थात् ऐकान्तिक-आत्यन्तिकरूपेण दुःखनिवृत्तेरभावादित्यर्थः अर्थात् 'दृष्टोपायेन' ऐकान्तिक (आवश्यक) रूपेण तथा 'आत्यन्तिकरूपेण' दुःखनिवृत्तिर्न भवतीति भावः ॥ १ ॥

हिन्दी—संसार के अन्दर आकर प्राणिमात्र जब कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है तब उस समय उन तीनों प्रकार के दुःखों के विनाश के कारण में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उनकी निवृत्ति का कारण कौन है ? और यदि वह जिज्ञासा दुःख की निवृत्ति (विनाश) के कारणीभूत औषध सेवन अथवा कामिनी (सुन्दर स्त्री) के उपभोग रूप दृष्ट उपाय से ही शान्त हो जाती है तो शास्त्र के आधार पर होने वाले दुरधिगम तत्त्वज्ञान की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर दिया कि पूर्वोक्त तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति दृष्ट उपाय से ऐकान्तिक (आवश्यक) रूप से तथा आत्यन्तिक (फिर कभी भी दुःख उत्पन्न न हो) रूप से नहीं होती है । अतः उनकी निवृत्ति के लिये शास्त्र में होनेवाला तत्त्वज्ञान ही श्रेयस्कर है ॥ १ ॥

दृष्ट उपाय से दुःखनिवृत्ति न हो किन्तु ज्योतिष्टोमादियागात्मक वैदिक उपाय से ही दुःखत्रय की निवृत्ति ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से हो जायगी श्रुति भी कहती है कि– 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् याग से स्वर्ग होता है और

स्वर्ग उस सुखविशेष का नाम है जो कि न तो दुःख मिश्रित हो और होने के पश्चात् जो दुःख ग्रस्त न हो तथा जिसके होने के अनन्तर इच्छानुसार वस्तु की प्राप्ति होती रहे। अतः दुःख की निवृत्ति के लिये शास्त्रजन्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? इस शंका को दूर करने के लिये कहते हैं--

दृष्टवदानुश्रविक स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

गौ०–'यदि[1] दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैव, यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः अनुश्रूयत इत्यनुश्रवस्तत्र भवः, आनुश्रविकः, स च आगमात् सिद्धः।

यथा--अपाम सोममममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं वा नूनमस्मान् तृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ॥

[2]कदाचिदिन्द्रादीनां देवानां कल्प आसीत्–कथं वयममृता अभूमेति विचार्य, यस्माद्वयमपाम सोमं पीतवन्तः सोमं तस्मादमृता अभूम अमरा भूतवन्त इत्यर्थः। किं च, अगन्मः ज्योतिः–गतवन्तः लब्धवन्तः ज्योतिः स्वर्गमिति। अविदाम देवान्–दिव्यान् विदितवन्तः। एवं च किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः, नूनं निश्चित किमरातिः शत्रुरस्मान् तृणवत् कर्तेति। किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य धूर्तिर्जरा हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य[3]। अन्यच्च वेदे श्रूयते आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन--'सर्वाल्लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते' इति। एकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते[4] 'अपार्थैव जिज्ञासा' इति, न। उच्यते दृष्टवदानुश्रविक इति। दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत्, योऽसौ आनुश्रविकः कस्मात् स दृष्टवत् ? यस्मादविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः अविशुद्धियुक्तः पशुघातात्।

---

[1] शङ्कते–यदीति। नैवेति। दृष्टोपायातिरिक्ते सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानविषये जिज्ञासा नैव कार्या–इति शेषः। तत्र हेतुमाह--यत इति।

[2] सेतिहासम्मन्त्रार्थमाह–कदाचिदिति। कल्पः—न्यायः।

[3] दिव्यशरीरस्य मे इत्यर्थः। आनुश्रविककर्मकलापस्यात्यन्तिकदुःखनिवृत्तौ प्रमाणान्तरमाहात्म्यच्चेति। पशुवधेन–तन्निमित्तेन यागादिकर्मणेत्यर्थः।

[4] आत्यन्तिकैकान्तिकदुःखपरिहारके वैदिके कर्मणि सुकरे उपाये विद्यमाने सति दुष्करे शास्त्रोक्ततत्त्वज्ञानरूपे जिज्ञासा व्यर्थैवेत्यर्थः।

तथा चोक्तम्—षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनदूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ इति ।

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि[1] मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति ।

तथा— बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे ।
कालेन समतीतानि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ इति ॥

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः । तथाऽतिशयो विशेषस्तेन युक्तः । विशेषगुणदर्शनादितरस्य[2] दुःखं स्यादिति । एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत् । 'कस्तर्हि श्रेयानि'ति ? उच्यते—**तद्विपरीतः श्रेयान्** ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां विपरीतः श्रेयान् प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशयायुक्तत्वात् । कथमित्याह—**व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्** । तत्र व्यक्तं महदादि-बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि, अव्यक्तं प्रधानम्, ज्ञः पुरुषः, एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते, एतद्विज्ञानात् श्रेय इति । उक्तं च 'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि ॥ २ ॥

अन्वयः—आनुश्रविकः, (अपि) दृष्टवत्, (अस्ति) हि, सः अविशुद्धिक्षय-अतिशययुक्तः, (अस्ति) (अतः) तद्विपरीतः, (उपायः) श्रेयान् (वर्त्तते) (स च उपायः) व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्, (भवति) ।

व्याख्या—आनुश्रविकः=गुरुपाठात् अनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः=तत्र भव आनुश्रविकः ज्योतिष्टोमादियागादिरूपो वैदिकः कर्मकलाप इत्यर्थः । दृष्टवत्=पूर्वोक्तदृष्टोपायतुल्य एवास्तीति भावः । हि=यतः । सः=आनुश्रविक उपायः । अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः=अविशुद्धिदोषयुक्तः यथा मनुष्यः कस्यचित् प्राणिनो हिंसां विधाय अविशुद्धिदोषयुक्तो भवति तथा यज्ञेऽपि पशुहिंसां कृत्वापि तादृशदोषवान् भवतीति भावः ।

क्षयदोषयुक्तश्च—स्वर्गादिरूपफलस्य भोगेन नाश्यत्वात्, पुनः पतनसंभवात्, यथा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति श्रूयते ।

---

[1] पशुवधजन्यपापफलदुःखयुक्तत्वात् स्वर्गादिरूपयागफलजनको धर्मो न इत्यर्थः । वैधहिंसाभिन्नहिंसैव पापजनिकेत्यत्र भिन्नान्तत्वनिवेशे प्रमाणाभावात् ।

[2] हीनगुणसम्पदः ।

अतिशयदोषयुक्तोऽपि यथा विज्ञकर्मकाण्डिनं दृष्ट्वा मूर्खकर्मकाण्डी दुःखी भवति, धनिनं दृष्ट्वा दरिद्रो दुःखी भवति, एवं सुन्दरं पुरुषं दृष्ट्वा कुरूपो दुःखी भवति, तथा स्वर्गेऽपि इन्द्रासनमासीनं जीवं दृष्ट्वा अपरे दुःखिनो भवन्ति । अतः अनुश्रविकेणापि यागादिकर्मकलापेन नैकान्तिकी-नात्यन्तिकी च दुःखनिवृत्तिर्भवितुमर्हति इति भावः ।

(अतः) तद्विपरीतः = तस्मात्-आनुश्रविकोपायात्, विपरीतः । (उपायः) अर्थात् 'सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानरूप' उपायः । श्रेयान् = प्रशस्तः (स 'च' तत्त्वज्ञानरूपोपायः) व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्=व्यक्तश्च अव्यक्तश्च ज्ञश्च-तेषां, विज्ञानात् अर्थात्-पञ्चविंशतितत्त्वानां साख्यशास्त्रजन्ययथार्थज्ञानात् । (भवति) ॥ २ ॥

हिन्दी–अनुश्रव (वेद) में विहित यागादिरूप आनुश्रविक उपाय भी पूर्वोक्त दृष्ट उपाय के समान ही हैं, क्योंकि वह भी अविशुद्धिदोष क्षयदोष तथा अतिशय दोष —इन तीन प्रकार के दोषों से युक्त ही है । इसलिये उस आनुश्रविक उपाय से विपरीत ही उपाय दुःखत्रय की निवृत्ति के लिये श्रेयस्कर होगा—जो कि व्यक्त-अव्यक्त (प्रकृति) तथा ज्ञ (पुरुष) इनके अवान्तर भेद सहित पच्चीस तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से होता है और वह ज्ञान सांख्यशास्त्र के अध्ययन से होता है । इसी उद्देश्य से ईश्वरकृष्ण ने पञ्चशिखाचार्य से इस साख्यशास्त्र सम्बन्धी पञ्चविंशति तत्त्वज्ञान को लेकर कारिका के द्वारा अभिव्यक्त किया ॥२॥

अब ईश्वरकृष्ण सांख्य-सम्बन्धी पच्चीस प्रकार के तत्त्वों के स्वरूप को पदार्थ-चतुष्टय के रूप में बतलाते हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

गौ०—'अथ व्यक्ताव्यक्तज्ञानां को विशेष इति' [1]उच्यते–मूलप्रकृतिः प्रधानम्-प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात्, मूलं च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः, अविकृतिः अन्यस्मान्नोत्पद्यते, तेन प्रकृतिः [2]कस्यचिद्विकारो न भवति । मह-

---

[1] पूर्वोक्तपञ्चविंशतितत्त्वानां संक्षिप्तचतुर्विधसांख्याभिमतपदार्थेषु अन्तर्भावरूपविशेष उच्यत इत्यर्थः ।

[2] प्रकर्षेण कार्यकरणात्प्रकृतिरिति वाचस्पतिमाठरौ ।

दाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । महान् बुद्धिः, बुद्धयाद्याः सप्त—बुद्धिः १ अहङ्कारः १ पञ्चतन्मात्राणि ५ एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः । तद् तथा—प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते तेन विकृतिः प्रधानस्य विकार इति, सैवाहङ्कारमुत्पादयति अतः प्रकृतिः । अहङ्कारोऽपि बुद्धे रुत्पद्यत इति विकृतिः स च पञ्चतन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः । तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव[1] वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः । रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवाप उत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महादाद्याः सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च । षोडशकस्तु विकारः; पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्च महाभूतानि एष पोडशको गणो विकृतिरेव विकारो विकृतिः । न प्रकृतिर्न विकृति पुरुषः[2] ॥ ३ ॥

अन्वयः—मूलप्रकृतिः, अविकृतिः, महदाद्याः, सप्त, प्रकृतिविकृतयः (भवन्ति) षोडशकः (गणः), विकारः, तु, पुरुषः न प्रकृतिः, न विकृतिः, (अस्ति)।

व्याख्या—मूलप्रकृतिः=प्रकरोति-संसारं रचयति, इति प्रकृतिः, मूलञ्चासौ प्रकृतिः मूलप्रकृतिः, संसारस्य मूलकारणं प्रधानमित्यर्थः । अविकृतिः=न विकृतिरिति अविकृतिः, विकारशून्या इत्यर्थः । महदाद्याः=महत् आद्यं येषां ते महदाद्याः-महत्तत्वम्, अहङ्कारतत्त्वम्, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धतन्मात्राणि इत्यर्थः । सप्त=सप्तसंख्याकाः । प्रकृतिविकृतयः=प्रकृतयश्च विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतय कारण-कार्योभयरूपाः, अर्थात् कस्यचित् कारणानि कस्यचिच्च कार्याणि इत्यर्थः । भवन्तीति शेषः । षोडशकः=ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्-कर्मेन्द्रियपञ्चकम्-तन्मात्रपंचकम्-मनश्चेति षोडशसंख्याकः । (गणः) विकारः=कार्यमेव । पुरुषः=जीवपदाभिधेयः सांख्यपुरुषः । न प्रकृतिः=न कारणम् । न विकृतिः=न कार्यम् (अस्ति).॥३॥

हिन्दी—संसार की रचना करनेवाली मूलभूत प्रकृति किसी की भी कार्य (विकृति) नहीं है अपितु वह समस्त चराचर विश्व की कारण (अविकृति)

---

[1] पूर्वोक्तशब्दतन्मात्ररीत्या, एवमग्रेऽपि ।

[2] एवं च प्रकृतिविकृतिरूपे जगति कश्चित्प्रकृतिरूप एव, कश्चिद्विकृतिरूप एव कश्चिदुभयरूपः, कश्चिदनुभयरूप एव पदार्थ इति भावः ।

ही है और महत् आदि संस्कृत-टीकोक्त सात पदार्थ किसी के कारण (प्रकृति), किसी के कार्य (विकृति), दोनों माने गये हैं तथा संस्कृति टीकोक्त १६ पदार्थ कार्य ही होते हैं और पुरुष न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है वह एकमात्र पुष्कर (कमल) पलाश (पत्र) के समान निर्लेप है ।

अभिप्राय यह है कि सांख्य में सामान्यत: चार पदार्थ माने गये हैं –१-कारण २–कार्य, ३–कार्यकारणोभयरूप, ४–कार्यकारणानुभयात्मक । जिनमें कारण-भूतपदार्थ केवल प्रकृति है और कार्यभूतपदार्थ १६ हैं, चक्षु आदि ५–ज्ञानेन्द्रियाँ वाणी आदि, ५–कर्मेन्द्रियाँ; शब्द आदि ५—तन्मात्राएँ और मन । और महत् अहंकार, ५–तन्मात्राएँ ये ७ पदार्थ कारण-कार्य उभयरूप है और पुरुष न किसी का कारण है न किसी का कार्य है अत: वह अनुभयात्मक है । इस प्रकार इन चार प्रकार के पदार्थों के ही २५ भेद हो जाते हैं ।। ३ ।।

इन पूर्वोक्त पदार्थों के साधक प्रमाण कितने हैं तथा कौन-कौन हैं ? शंका का उत्तर देते हैं ।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ।। ४ ।।

गौ०– [1]एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः कियद्भिः प्रमाणैः केन कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति, इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते, यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयस्तुलया चन्दनादि, तस्मात् प्रमाणमभिधेयम्[2] । दृष्टमिति दृष्टं तथा श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथासंख्यम्, शब्दं श्रोत्रं गृह्णाति त्वक् स्पर्शं, चक्षू रूपं, जिह्वा रसं, घ्राणं गन्धमिति, एतद् दृष्टमित्युच्यते प्रमाणम्[3] । प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते स आप्तवचनाद् ग्राह्यः[4] यथा 'इन्द्रो

---

१. प्रमेयोद्देशानन्तरम् । प्रमाणनिरूपणे सङ्गतिमाह–एवमिति ।

२. तद्दर्शयति–विभागलक्षणाभ्यां दृष्टमितीति शेषः ।

३. प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं प्रसिद्धत्वाद्वक्ष्यमाणत्वाच्चात्रोद्देशप्रकरणे नोक्तम् ।

४. आप्ता रागद्वेषरहिताः सनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदस्ताभ्यामुपदिष्टं तथेति श्रद्धेयमाप्तवचनमिति माठरः ।

देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेप्सरसः' इत्यादि। प्रत्यक्षानुमानाग्राह्यमप्याप्तवचनाद् गृह्यते। अपि चोक्तम्[1]—

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं[2] दोषक्षयाद्विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भावत्॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥ इति।

[3]एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति। षट् प्रमाणानि जैमिनिः। अथ कानि तानि प्रमाणानि? 'अर्थापत्तिः सम्भवः अभावः प्रतिभा ऐतिह्यम् उपमानं च' इति षट् प्रमाणानि। तत्रार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टा श्रुता च। तत्र दृष्टा—एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यत एव। श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते, अतोऽवगम्यते रात्रौ भुङ्क्त इति। सम्भवो यथा—प्रस्थ इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते। अभावो नाम प्रागितरेतरात्यन्तसर्वाभावलक्षणः। प्रागभावो यथा—देवदत्तः कौमारयौवनादिषुः[4]। इतरेतराभावः—पटे घटाभावः। अत्यन्ताभावः खरविषाणवन्ध्यासुतखपुष्पवदिति। सर्वाभावः—प्रध्वंसाभावो दग्धपटवदिति। यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते।[5] एवमभावोऽनेकधा। प्रतिभा यथा—'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम्। पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः॥' एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते, प्रतिभा च जानतां ज्ञानमिति[6]। ऐतिह्यं यथा—ब्रवीति लोको यथाऽत्रवटे यक्षिणी प्रतिवसतीत्येव

---

[1] अत एवोक्तमित्यर्थः।

[2] आप्तवचनं लक्षयित्वा तद्घटितमाप्तत्वं निर्वक्ति—आप्तमिति।

[3] सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति कारिकांशं व्याचष्टे-एतेष्विति। सिद्धानि-अन्त-र्भूतानि।

[4] कुमारदेवदत्ते युवा भविष्यतीति यौवनप्रागभाव इत्यर्थः।

[5] यथा—प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिकयोरत्यन्तान्योन्याभावयोर्बहुत्वम्। एवं विशिष्टाभावद्वित्वावच्छिन्नाभावसामान्याभावभेदेनाप्यभावस्यानेकविधत्वं विभावनीयम्।

[6] इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थभानं सा प्रतिभा सैव च प्राति भमार्षापरपर्यायं ज्ञानमिति प्रशस्तपादाचार्याः।

ऐतिह्यम् । उपमानं यथा—गौरिव गवयः, समुद्र इव तडागः । एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि । तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता[१] सम्भवाभावप्रतिभैतिह्योपमानाश्चाप्तवचने । तस्मात् त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, तदाह-तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिर्भवतीति[२] वाक्यशेषः । प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि । प्रमेयं प्रधानं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि पुरुष इति, एतानि पंचविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञा इत्युच्यन्ते, तत्र किञ्चित् प्रत्यक्षेण साध्यं किञ्चिदनुमानेन किञ्चिदागमेनेति त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—दृष्टम्, अनुमानम् च, आप्तवचनम्, त्रिविधम् प्रमाणम्, इष्टम् सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, हि, प्रमेयसिद्धिः, प्रमाणात्, (भवति) ।

व्याख्या - दृष्टम् = प्रत्यक्षम् । अनुमानम् । च । आप्तवचनम्=शब्दः । त्रिविधम् । प्रमाणम् । इष्टम् = अभिमतम् । सांख्यानामिति शेषः । ननु त्रिविधप्रमाणातिरिक्तप्रमाणानां सत्त्वात्कथं त्रीण्येव प्रमाणानि उक्तानि इति चेन्न । सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । हि=यतः । प्रमेयसिद्धिः = प्रमेयपदार्थानां घटपटादीनां, सिद्धिः=निश्चयः । प्रमाणात् । भवतीति शेषः ॥ ४ ॥

हिन्दी—प्रत्यक्ष (दृष्ट), अनुमान, आप्तवचन (शब्द)–ये तीन प्रकार के प्रमाण सांख्यों ने माने हैं । अन्य लोगों से स्वीकृत और सब प्रमाण इन्हीं तीन प्रमाणों में सिद्ध (अन्तर्भूत) हैं । प्रमाणों को स्वीकार करने की आवश्यकता इसलिये होती है कि घट-पट आदि प्रमेय पदार्थों की सिद्धि प्रमाण के आधार पर ही होती है ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त प्रमाणों के लक्षण बतलाते हैं—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥

---

१. जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिःसत्त्वकल्पनमर्थापत्तिरभिमता मीमांसकानाम्, किन्तु देवदत्तो बहिःसत्तावान् जीवित्वे सति गृहेऽसत्त्वादहमिवेति व्यतिरेक्यनुमान एव तस्या अन्तर्भाव इत्यर्थः । सम्भवेति । अत्र सम्भवाभावयोरनुमानप्रत्यक्षान्तर्भावस्य सकलदार्शनिकमतसम्मतत्वादाप्तवचनेऽन्तर्भावश्चिन्त्यः ।

२. दृष्टादित्रिविधप्रमाणेऽर्थापत्त्यादिप्रमाणन्तर्भावो भवतीत्यर्थः ।

गौ०—तस्य किं लक्षणमेतदाह—प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टं, प्रत्यक्षमित्यर्थः । त्रिविधमनुमानमाख्यातं—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति । पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववद्, यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति पूर्वदृष्टवात् । शेषवत् यथा—समुद्रादेकं जलपलं[1] लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति । सामान्यतोदृष्टम्—देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तं दृष्टम् गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य गतिमानयमिति तद्वच्चन्द्रतारकमिति, तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति[2] एतत्सामान्यतो दृष्टम् । किञ्च **तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति**, तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं, यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा दण्डेन यतिः । लिङ्गिपूर्वकं च, यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा—दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति[3] **आप्तश्रुतिराप्तवचनं च** । आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः[4] तदुक्तमाप्तवचनमिति एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—प्रतिविषयाध्यवसायः, दृष्टम्, अनुमानम्, त्रिविधम्, आख्यातम्, तत्, लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, आप्तश्रुति, आप्तवचनम् तु ॥ ५ ॥

व्याख्या—प्रतिविषयाध्यवसायः='विषयं-विषयं' प्रति 'वर्तते' 'इति' प्रतिविषयम्=अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियम्, अध्यवसायः=ज्ञानम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञानम् इत्यर्थः । दृष्टम्=प्रत्यक्षप्रमाणम् । अनुमानम्=अनुमानं प्रमाणम् । त्रिविधम्=पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्टञ्च । आख्यातम्=कथितम् । तत्= पूर्वोक्तम् अनुमानम् लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्=लिङ्गम् व्याप्यम्, लिङ्ग्ग व्यापकम् ।

---

[1] पलपरिमाणं जलमित्यर्थः । लवणं-क्षारम् ।

[2] अत्र अयं देशो भविष्यद्वृष्टिमान् मेघोन्नतिमत्वात् तद्देशवत्, समुद्रजलं क्षारमुदधिजलत्वादुद्धृततज्जलवत्, चन्द्रतारकं गतिमत् देशान्तरप्राप्तिमत्वाच्चैत्रवदिति क्रमेण त्रिविधस्यानुमानस्य प्रयोगा द्रष्टव्याः ।

[3] लिङ्गं व्याप्यं, लिङ्गि ·व्यापकं, लिङ्गलिङ्गिपदेन प्रत्ययोपलक्षणम्, लिङ्गिग्रहणावृत्या च लिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मताज्ञानं दर्शितम्, तेन व्याप्यव्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणमिति मिश्राः ।

[4] द्वन्द्वसमासेन वेदवाक्यानामार्षाणां वाक्यानां च स्वतः प्रमाणत्वमुद्घोषितं तन्मूलत्वाच्चेतरेषां प्रमाणत्वमिति ।

तत्पूर्वकम् अर्थात् व्याप्यव्यापकभावपूर्वकम्, लिङ्गिपदञ्च आवर्तनीयं तेन आवृत्तद्वितीयलिङ्गपदेन लिङ्गमस्यास्तीति व्युत्पत्या पक्षधर्मताज्ञानमपि 'लब्धं' भवति—तथा च व्याप्यव्यापकभावपूर्वकत्वे, सति पक्षधर्मताज्ञानपूर्वकत्वम्, अनुमानसामान्यलक्षणम् । आप्तश्रुति=आप्तानाम्=वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृणाम्, श्रुतिः=श्रवणेन्द्रियजन्य-शब्दज्ञानम्, तथा च 'आप्तपुरुषोच्चरितवाक्यजन्य-वाक्यार्थज्ञानत्वम् । आप्तवचनम्=अर्थात् शब्दप्रमाणसामान्यलक्षणम् ।

हिन्दी—सांख्यवालों ने प्रतिविषय अर्थात् अर्थसन्निकृष्ट इन्द्रिय से होने वाले अध्यवसाय (वृत्तिरूप ज्ञान) को हो प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। उनका अभिप्राय यह है कि घट-पट आदि विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्वन्ध होने पर बुद्धि के तमोगुणरूप आवरण का भंग होता है और फिर सत्त्वगुण स्वरूप प्रकाश का आविर्भाव होता है और उसके पश्चात् घटाकारवृत्तिरूप अध्यवसाय (निश्चयात्मकवृत्ति) का उदय होता है, वही निश्चयात्मिका अन्तःकरण (बुद्धि) की वृत्ति 'अयं घटः" इस प्रमाज्ञानस्वरूप पौरुषेय बोध का कारण होने से प्रमाण बनती है।

सांख्यमत में अनुमान के स्वरूप का "लिङ्गलिङ्गपूर्वकम्" कहकर शाब्दिक भेद अवश्य कर दिया है परन्तु आर्थिक स्वरूप अनुमान का वही है जो कि नैयायिकों ने माना है कि व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' । और इसी अर्थ में वाचस्पति मिश्र ने 'लिङ्गलिङ्गिपूर्वक' का पर्यवसान भी किया है।

और वह अनुमान–(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतोदृष्ट– इस रूप से तीन प्रकार का है। कारण के द्वारा होनेवाले कार्यानुमान को पूर्ववत् अनुमान कहा है। जैसे बादलों से आच्छादित आकाश को देख कर तथा विजली की कड़कड़ाहट को सुनकर भाविकालीन वृष्टिरूप कार्य का अनुमान होता है।

शेषवत्—शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है। क्योंकि अन्तिमकार्य को 'शेष' शब्द से कहा है और उस कार्यरूप लिंग से होनेवाले अनुमान को शेषवत् अनुमान कहा है। इसका सुगम उदाहरण है 'वह्निमान् धूमात्'।

सामान्यतोदृष्ट—सामान्यतोदृष्ट वह अनुमान है जो कार्य और कारण इन

दोनों लिंगों से शून्य हो अर्थात् जहाँ हेतु में साध्य की व्याप्ति सामान्य रूप से दृष्ट हो चुकी हो। जैसे चक्षुः प्रमाणं प्रमाजनकत्वात् श्रोत्रवत्।

आप्तवचनम्—यहाँ पर आप्तवचन यह लक्ष्य है और आप्त श्रुति यह लक्षण है। अर्थात् आप्तपुरुष के द्वारा उच्चरित यथार्थवाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान को ही शब्दप्रमाण कहा है। अतः वेदश्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्र एवं सामान्यशास्त्र आदि के वाक्यों से उत्पन्न हुए ज्ञानों का भी शब्दप्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है, बौद्धदर्शन प्रभृति वाक्यों के प्रामाण्य का निरास इसलिए हो गया कि वे अनाप्तोच्चरित हैं।

प्रश्न—पहिले जो तीन प्रकार के प्रमाण वतलाये वे उनमें से प्रत्यक्ष-प्रमाण का देखना-सुनना आदि फल स्पष्ट ही है अतः इतर दो प्रमाणों का अर्थात् अनुमान और शब्दप्रमाण का फल दिखलाते हैं—'सामान्यतस्तु' इत्यादि ग्रन्थ से—

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥

गौ०—'तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम्' उच्यते—**सामान्यतो दृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणा**मिन्द्रियाण्यतीत्य वर्तमानानां सिद्धिः। प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टेनानुमानेन साध्येते,—यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणम्, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति, यतश्चाचेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽन्योऽधिष्ठाता पुरुष इति। व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्, **तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्**—'यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस' इति परोक्षमाप्त-वचनात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—सामान्यतस्तु दृष्टात्, अतीन्द्रियाणाम् अनुमानात्, प्रतीतिः, (भवति) तस्मादपि, च, असिद्धं, परोक्षम्, आप्तागमात्, सिद्धम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—सामान्यतोदृष्टात्। अनुमानात्। तु=एव। अतीन्द्रियाणाम्=इन्द्रियाग्राह्यपदार्थानाम् (प्रधान-पुरुषादीनाम्)। प्रतीतिः=ज्ञानम्। (भवति) च। तस्मादपि=सामान्यतोदृष्टानुमानादपि। असिद्धम्=अज्ञातम्। परोक्षम्=अप्रत्यक्षम् (वस्तु)। आप्तागमात्=शब्दप्रमाणात्। सिद्धम्=ज्ञातम्। भवतीति शेषः।

हिन्दी—सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही प्रकृति-पुरुष आदि अतीन्द्रियपदार्थों

की प्रतीति होती है और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी जिन स्वर्ग-नरक आदि अतीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान नहीं हो पाता है उनका ज्ञान शब्दप्रमाण के आधार पर होता है।

प्रश्न—जिस प्रकार आकाशपुष्प-कछुए के रोम-खरगोश के सींग आदि पदार्थों का प्रत्यक्षप्रमाण एव सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी ज्ञान ही न होकर उल्टा उनके अभाव का ज्ञान होता है उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का भी अस्तित्वाभाव ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ? तब फिर कैसे सामान्यतादृष्ट अनुमान से प्रकृति-पुरुष की सिद्धि सांख्य कर सकेगा ?

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानाच्च ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहारात् ।। ७ ।।

गौ०—अत्र कश्चिदाह 'प्रधानं पुरुषो वा नोपलभ्यते, यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति तस्मात् तावपि न स्तः यथा द्वितीयं शिरस्तृतीयो वाहुरिति[1] । तदुच्यते-अत्र सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति । तद् यथा—इह सतामत्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा, यथा—देशान्तरस्थानां चैत्रमैत्र विष्णुमित्राणाम् । सामीप्याद् यथा—चक्षुषोऽञ्जनानुपलब्धिः । इन्द्रियाभिघाताद्—यथा—बिधिरान्धयोः शब्दरूपानुपलब्धिः **मनोऽनवस्थानाद्** यथा—व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधारयति । **सौक्ष्म्याद्** यथा—धूमोष्मजलनीहारपरमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते । **व्यवधानाद्** यथा—कुड्ये पिहितं वस्तु नोपलभ्यते[2] । **अभिभवाद्** यथा-सूर्यतेजसाऽभिभूताः ग्रहनक्षत्रतारकादयः नोपलभ्यन्ते । **समानाभिहाराद्** यथा—मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः कुवलयामलकमध्ये कुवलयामलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते समानद्रव्यमध्याहृतत्वात् । एवमष्टधानुपलब्धिः सतामर्थानामिह दृष्टा ।। ७ ।।

अन्वयः—अतिदूरात्, अतिसामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात् व्यवधानात् अभिभवात्, समानाभिहारात् च, (अनुपलब्धिर्भवतीति शेषः) ।

व्याख्या—अतिदूरात् = अतिदूरत्वदोषात् । (अनुपलब्धिः = अप्रत्यक्षं, ति) (एवम्) अतिसामीप्यात् । इन्द्रियघानात् = इन्द्रियस्य नष्टत्वात् । मनोन-

---

[1] तत्रोच्यत इत्यर्थ. । अत्र—जगति ।

[2] बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणमभिभवः ।

वस्थानात्=मनसोऽसावधानात्, (विषयान्तरे संलग्नात् इत्यर्थः)। सौक्ष्म्यात्=सूक्ष्मत्वात् व्यवधानात्=व्यवहितत्वात्। अभिभवात्=अभिभूतत्वात्। समानाभिहारात् = स्वसजातीयवस्त्वन्तरसम्मिश्रणात्। (अनुपलब्धिः = उपलब्ध्यभावः, अप्रत्यक्षमिति यावत्। भवति)

हिन्दी—१--कुछ पदार्थों का अधिक दूर होने से प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे—आकाश में अधिक दूर पर उड़ता हुआ पक्षी अत्यन्त दूर होने के नाते दिखाई नहीं देता है।

२—कोई वस्तु अत्यन्त समीप होने के नाते भी नहीं दीख पड़ती है—जैसे नेत्रों में लगा हुआ अंजन अत्यन्त समीप होने के नाते स्वयं (अपने) को नहीं दिखाई देता है।

३—इन्द्रियों के घात (खराबी) से भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, जैसे—अन्धव्यक्ति को कोई भी वस्तु नहीं दीखती है। एवं बधिर को कुछ भी सुनाता ही नहीं है।

४—मन के अनवस्थान (असावधानी) के कारण भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है जैसे—चिन्ताग्रस्त व्यक्ति के समक्ष मौजूद वस्तु भी दिखाई नहीं देती है।

५—अत्यन्त सूक्ष्म होने से भी किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, जैसे—न्यायमत सिद्ध परमाणु तथा द्वचणुक। इसी प्रकार तत्तत् रोगों के कीटाणु भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के नाते नहीं दीख पड़ते हैं।

६—व्यवधान (द्वार आदि की आड़) होने से भी किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है।

७—कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु से अभिभूत हो जाने के कारण भी नहीं दीख पड़ती है, जैसे—आकाश के अन्दर दिन में तारे तथा चन्द्रमा आदि सूर्य के प्रकाश में अभिभूत (छिप जाने) होने के कारण नहीं दीख पड़ते हैं।

८—अपने समान वस्तुओं में मिल जाने के कारण भी वस्तुयें नहीं दीख पड़ती हैं, जैसे—तालाब, कुएँ आदि में पड़ा हुआ वर्षा का जल अलग से नहीं दीख पड़ता है।

प्रश्न – इन कारणों में ऐसा कौन कारण है जिसमे कि प्रकृति-पुरुष आदि तत्त्वों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है ?

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च ॥८॥

गौ०–[1]'एवं चास्ति किमभ्युपगम्यते प्रधानपुरुषयोरप्येतयोर्वाऽनुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः' । तदुच्यते–**सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः**, प्रधानस्येत्यर्थः, प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः, सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते । कथं तर्हि तदुपलब्धिः ? **कार्यतस्तदुपलब्धिः** । कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते । अस्ति प्रधानं कारणं यस्येदं कार्यम् बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम् । तच्च कार्यं **प्रकृतिविरूपम्**—प्रकृतिः प्रधानं तस्य विरूपं प्रकृतेरसदृशम्, **सरूपं च** समानरूपं च, यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इव पुत्रो भवत्यतुल्यश्च । येन हेतुना तुल्यमतुल्यं तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः[2] ॥ ८ ।

अन्वयः—सौम्यात्, तदनुपलब्धिः, न, अभावात्, कार्यतः, तदुपलब्धेः तच्च, कार्यम्, महदादि, प्रकृतिविरूपम्, सरूपञ्च ।

व्याख्या–सौक्ष्यात्=सूक्ष्मत्वात् (हेतोः) । तदनुपब्धिः=तेषाम् प्रधानपुरुषादीनाम्, अनुपलब्धिः=अप्रत्यक्षम् । (भवति) । न=न तु । अभावाद् असत्त्वात्=अत्यन्तम् असत्त्वात् ।

यथा अत्यन्तमसतः शशश्रृङ्गादेः अत्यन्ताभावादेव नोपलब्धिर्भवति, प्रधानपुरुषादीनामनुपब्धिर्न भवति, अपि तु प्रधानपुरुषादीनाम् अयोग्यत्वादेव अनुपलब्धिः (अप्रत्यक्षम्) जायते, तेषामयोग्यत्वे 'सौक्ष्म्यं' हेतुः, (तत्सिद्धं सौक्ष्म्यात्तदनुपब्धिर्नाभावात्) कार्यतः=प्रकृतेर्महदादिरूपकार्यतः अर्थात् प्रकृतेर्महदादिकार्यं दृष्ट्वा । तदुपलब्धेः=तेषां प्रधानादीनाम्, उपलब्धेः=ज्ञानाद् । अनुमानादित्यर्थः । (अनुमानप्रयोगश्च—'महदादिकार्यं सुख-

---

[1] शङ्कते—एवमिति । अष्टधाऽनुपलब्धिर्वर्ततां तथाप्येतेषु केन हेतुना प्रधानपुरुषयोरनुपलब्धिः, केन वा हेतुना तयोरनुपब्धावपि सिद्धिर्भवतीति शङ्काकर्तुराशयः ।

[2] हेतुमदनित्यम् त्रिगुणमविवेकीति कारिकाद्वय इत्यर्थः ।

दुःख-मोहात्मकद्रव्यकारणम् कार्यस्य [त्रिगुणात्मकत्वात्] तच्च = तत्, च । महत् 'आदि' । कार्यम् । प्रकृतिसरूपम् = प्रकृतिसजातीयम् । च । विरूपम् = प्रकृतिविजातीयम् । [यथा पुत्रः क्वचित् पितुः सदृशो दृश्यते, क्वचिच्च असदृशो दृश्यते] ।

हिन्दी—प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है । प्रकृति और पुरुष के प्रत्यक्ष न होने में उनका अभाव कारण नहीं है, (अर्थात् प्रकृति और पुरुष नाम की संसार में कोई वस्तु ही नहीं है—तो बात नहीं है) क्योंकि महत्तत्त्व आदि कार्य से उसके कारण प्रकृति की उपलब्धि (ज्ञान) होती है ।

प्रश्न—वह कौन-सा प्रकृति का कार्य है जिस कार्य से उसके कारण प्रकृति का ज्ञान होता है ?

उत्तर—"महदादि तच्च कार्यम्" महत्तत्त्व आदि वह कार्य है, जो कि कुछ कार्य प्रकृति के सजातीय (समान धर्मवाला) है और कुछ विजातीय (विरुद्ध धर्मवाला) है । यह सजात्य (साधर्म्य) और वैजात्य (वैधर्म्य) आगे १०-११ कारिका में वताया जायगा ॥ ८ ॥

सत्कार्यवाद

सत्कार्यवादे सन्ति विप्रतिपत्तयः । यथा शून्यतत्त्ववादिनो माध्यमिका विनष्टाद् वीजाद् अङ्कुरोत्पत्ति दृष्ट्वा कथयन्ति यद् यथा बीजध्वंसः अङ्कुरं प्रति कारणम्, यथा वा मृत्पिण्डध्वंसो घटं प्रति कारणम्, यथा तूलिकाध्वंसः पटं प्रति कारणम्, एवमेव हि शून्यात्मकं तत्त्वं इदं चराचरं जगदुत्पादयति, अर्थात् शून्यतत्त्वत एव सर्वमिदं जगदुत्पद्यते, अतः असत्कारणात् सत्कार्यं जायते ।

वेदान्तिनश्च एकस्यैव सद्ब्रह्मणो विवर्तजातम् असज्जगदिति कथयन्ति तथाचैतन्मते सतोऽसज्जायते ।

नैयायिका वैशेषिकाश्च सत एव परमाण्वादिभ्योऽसद्घटादिकमुत्पद्यते इति वदन्ति, तथा चैतेषां मते उत्पत्तेः पूर्वं घटादिकार्यमात्रमसदेवेति भावः ।

सांख्या वस्तुसद्रूपायाः प्रकृतेः महदादिकार्यमपि सदेवोत्पद्यते इति वदन्ति । अतः उत्पत्तेः पूर्वमपि कार्यं सदेवेति साधयन्ति हेतुपञ्चकानुमानेन—असदकरणात् ।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥९॥

गौ०—'यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधाने सदुताहोस्विदसत्' आचार्यविप्रतिपत्तेरयं संशयः ।[1] यतोऽत्र सांख्यदर्शने सत्कार्यं, बौद्धादीनामसत्कार्यम्, 'यदि सदसन्न भवत्यथासत्सन्न भवतीति विप्रतिषेधः' । तत्राह-**असदकरणात्** । न सदसतोऽकरणं तस्मात्सत्कार्यम्, इह लोकेऽसत्करणं नास्ति, यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः, तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्, अतः सत्कार्यम् । किञ्चान्यत् **उपादानग्रहणात्** उपादानं कारणं तस्य ग्रहणात्, इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति दध्यर्थी क्षीरस्य न तु जलस्य तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च **सर्वसम्भवाभावात्**, सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथा सुवर्णस्य रजतादौ तृणपांशुसिकतासु[2] । तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत् कार्यम् । इतश्च **शक्तस्य शक्यकारणात्** इह कुलालः शक्तो मृद्दण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणोपकरणं वा शक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च **कारणभावाच्च सत्कार्यम्** । कारणं यल्लक्षणं तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः, व्रीहिभ्यो व्रीहयः यदाऽसत्कार्यं स्यात् ततः कोद्रवेभ्यः शालयः स्युर्न च[3] सन्तीति. तस्मात् सत्कार्यम् । एवं पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादिलिङ्गमस्ति, तस्मात् सत उत्पत्तिर्नासत इति ॥ ९ ॥

अन्वयः – कार्यम्, सत्, असदकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भावाभावात्, शक्तस्य शक्यकारणात्, कारणभावाच्च ।

व्याख्या—कार्यम् = महदादिब्रह्माण्डान्तं 'समस्तं' कार्यम् । सत् = उत्पत्तेः 'पूर्वमपि' सत्तावत् । कुतः ? असदकरणात् असतः = शशशृङ्गादिरूपकार्यस्य, अकरणात् = उत्पत्त्यसंभवात् (अर्थात् 'जैसे' शशशृङ्गादिरूप असत् कार्य का कोई कारण (उत्पत्ति करने वाला) नहीं देखा जाता है वैसे ही उत्पत्ति के पूर्व

---

[1] १. आचार्यविप्रतिपत्तिमेवाह - यत इति । विप्रतिपत्तिवीजं प्रदर्शयन्नाह पूर्वपक्षी—यदीति ।

[2] २. अत्र चकारोऽपेक्षितः, अथवा तैलस्येति शेषोऽत्र कर्तव्यः ।

[3] ३. न भवन्तीत्यर्थः ।

में यदि कार्य को असत् माना जायगा तो उसका भी कोई उत्पादक करण (कारण) सिद्ध न हो सकेगा) (अतः 'कार्यम् उत्पत्तेः पूर्वमपि सदेवेत्यर्थः)

कार्यस्य सत्त्वसाधकं हेत्वन्तरमप्याह—उपादानग्रहणात् = उपादानानि = कारणानि, तेषां ग्रहणं=कार्येण सह सम्बन्धः। तथा च सत एव कार्यस्य करणैः सह सम्बन्धो भवितुमर्हति न असत इति भावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य अस्तित्व-साधकं तृतीयं हेतुमाह—सर्वसम्भवाभावात्=सर्वस्मिन् कारणे सर्वकार्यस्य सम्भव इति सर्वसम्भवः तदभावात् इति सर्वसम्भवाभावात्=सवस्मिन् सर्वेषां कार्याणाम् उत्पत्त्यदर्शनात् इत्यर्थः। [अर्थात् सब कार्य सब कारणों से उत्पन्न होते हुए देखने में नहीं आते हैं किन्तु जिन कारणों में जिन कार्यो का सम्बन्ध देखा जाता है उन्हीं कारणों से कार्योत्पत्ति के पश्चात् जैसे सत् मानते हो ऐसे ही उत्पत्ति के पूर्व भी सत् मानना चाहिये ऐसा सांख्य का कहना है]।

उत्पत्तेः पूर्वं कार्यं सदेवेति प्रदर्शयितुं चतुर्थं हेतुमाह—शक्तस्य शक्यकरणात् यत् कारणं यादृशकार्योत्पादने शक्तं भवति तत् 'कारणं' स्वीयशक्त्याश्रयीभूतस्य (शक्यस्य) कार्यस्य 'करणं (असाधारणं कारणं) भवतीति' भावः। उत्पत्तेः पूर्वं यदि कार्यम् असत् स्यात्तर्हि कारणनिरूपिता शक्तिस्तस्मिन् असति कार्ये कथं स्यात्—अत उत्पत्तेः पश्चादिव उत्पत्तेः पूर्वमपि कार्यं सदेव स्वीकार्यम्।

सत्कार्यं साधयितुमिदानीं पञ्चमं हेतुमाह—"कारणभावाच्च" कारणभावादित्यत्र कारणस्य यो भावस्तादात्म्य तस्मात्, कारणात्मकत्वादित्यर्थः। अर्थात् कार्यस्य कारणस्वरूपत्वात् तथा च कारणं यदि सत् तदा कार्यमपि सदेव स्वीकार्यम् उत्पत्तेः पूर्वं यदि कार्यम् असत् स्यात् तर्हि सता कारणेन सह असत्-कार्यस्य कथं तादात्म्यं स्यात्? अतः उत्पत्तेः पूर्वमपि कार्यं सदेव स्वीकार्यम्।

हिन्दी—"असदकरणात्"=सांख्यवालों ने उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य को सत् ही माना है। कार्य को सर्वथा सत् सिद्ध करने वाले हेतु पाँच हैं। जिनमें प्रथम हेतु "असदकरणात्" है। "असदकरणात्" का अर्थ है कि असत् कार्य का कोई भी कारण नहीं होता है, जैसे गन्धर्वनगर—आकाशकमल—बन्ध्यापुत्र—शशविषाण-कूर्मरोम आदि असत् पदार्थों का कोई भी कारण देखने में नहीं आता है, अतः कारण के व्यापार के पश्चात् कार्य को जैसे सत् माना जाता है ऐसे ही उसके पूर्व भी कार्य को सत् ही मानना चाहिये।

प्रश्न—कार्य यदि उत्पत्ति के पहले भी सत् अर्थात् मौजूद है तब कारण व्यापार ने क्या किया, अर्थात् उसके लिये कारण व्यापार ही व्यर्थ है।

उत्तर—कार्य सर्वथा सत् ही है—परन्तु कारण व्यापार के पूर्व वह अभिव्यक्त रूप से नहीं है इसलिये केवल कार्य की अभिव्यक्ति के लिए ही कारण व्यापार की आवश्यकता है। जैसे—धानरूप कारण के अन्दर चावल कार्य के रूपमें मौजूद होते हुए भी धानरूप कारण का कूटनात्मक व्यापार आवश्यक होता है। एवं तिलरूप कारण के अन्दर तैलरूप कार्य के वर्त्तमान होते हुए भी तिलरूप कारण के पीडनात्मक व्यापार की आवश्यकता होती है।

"उपादानग्रहणात्=उपादान (कारण) का ग्रहण=कार्य के साथ सम्बन्ध होने से कार्य सत् ही है। अभिप्राय यह है कि कार्य से सम्बद्ध कारण ही कार्य के उत्पादन करने में समर्थ होता है। जैसे—तैलरूप कार्य से सम्बद्ध होता हुआ ही तिलात्मक कारण अपने तैलरूप कार्य का उत्पादक होता है। सम्बन्ध तो असत् कार्य का कारण के साथ कथमपि हो ही नहीं सकता है अतः उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य को सत ही मानना चाहिये।

"सर्वसम्भवाभावात्"=सब कार्यों का सम्भव (उत्पत्ति) सब कारणों से नहीं हो पाता है किन्तु कारण के साथ सम्बन्धित होकर ही कार्योत्पत्ति देखने में आती है, अर्थात् जिस कारण के साथ जिस कार्य का सम्बन्ध होता है उसी कारण से उस कार्य की उत्पत्ति होती है, असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति कारण से नहीं होती है, कारण को ऐसा होने पर तन्तुओं से घट की, मृत्तिका से पट की उत्पत्ति होनी चाहिये, इसलिये यह कहना होगा कि जिस कारण का जिस कार्य के साथ सम्बन्ध होता है वह कारण अपने उसी सम्बद्ध कार्य को उत्पन्न कर सकता है असम्बद्ध को नहीं और सम्बद्ध सत् कार्य ही का होता है अतः कार्य को उत्पत्ति के पूर्व भी सत् ही मानना होगा।

'शक्तस्य शक्यकारणात्'=जिस कार्य के उत्पादन में जो कारण शक्त होता)है यही कारण शक्य (शक्ति के आश्रयीभूतकार्य) का कारण (असाधारण कारण होता है। जैसे पटात्मक कार्य के उत्पादन में शक्त तन्तु रूप कारण ही अपने पटात्मक शक्य कार्य का कारण देखा जाता है अब यदि कार्य को उत्पत्ति के पूर्व सर्वथा असत् ही स्वीकार किया जाता है तो उस असत् कार्य में कैसे कारण

निरूपित शक्ति रह सकती है, अतः उत्पत्ति के पूर्व में भी कार्य को सत् ही मानना होगा।

"कारणभावाच्च"—कारण का भाव = तादात्म्य होने से अर्थात् कार्य के साथ कारण का तादात्म्य होने से अर्थात् कार्य और कारण का अभेद होने से भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है।

प्रश्न—कार्य और कारण परस्पर अभिन्न हैं यह कैसे सिद्ध हुआ ?

उत्तर—कार्य और कारण में अभेद इस प्रकार है कि हम देखते हैं कि जैसा कारण होता है वह अपने समान ही कार्य को उत्पन्न करता है—जैसे मनुष्य मनुष्य ही को उत्पन्न करता है, पशु से पशु ही उत्पन्न होता है, एवं गेहूँ से गेहूँ, चने से चना इत्यादि। इसलिये जब कारण सत है तो उससे अभिन्न कार्य भी उत्पत्ति के पूर्व सत् ही है। अर्थात् उत्पन्न होने के पहिले कार्य-कारण रूप से अपना अस्तित्व रखता है और उत्पत्ति के पश्चात् वह कार्यरूप से मौजूद रहता है।

पहिले अष्टम कारिका में 'महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपञ्च' यह कह आये हैं अब उसी सारूप्य-वैरूप्य को अर्थात् प्रकृति और उसके कार्य के साधर्म्य-वैधर्म्य को बतलाते हैं, जिनमें १०वीं कारिका से वैधर्म्य को बतलाते हैं—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

गौ०—'प्रकृतिविरूपं सरूपं च यदुक्तं तत् कथमिति' उच्यते—व्यक्तं महदादि कार्यम्। हेतुमदिति। हेतुरस्यास्ति हेतुमत्, उपादानं हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमत्। व्यक्तं भूतपर्यन्तम्, हेतुमद् बुद्धितत्त्वं प्रधानेन हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण, आकाश शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्, वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्, तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्, आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः, पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती, एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत्। किञ्चान्यत् अनित्यं, यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते यथा मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः स चानित्यः। किञ्चाव्यापि, असर्वगमित्यर्थः, यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ नैवं व्यक्तम्। किञ्चान्यत् सक्रियं, संसारकाले संसरति-त्रयो-

दशविधेन[1] करणेन संयुक्तं सूक्ष्मं शरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम् । किञ्चान्यत्[2] अनेकं, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति । किञ्चान्यत् आश्रितम्, स्वकारणमाश्रयते, प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कारः अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि पञ्चतन्मात्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानीति । किञ्च लिङ्गं लययुक्तं, लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे स च बुद्धौ सा च प्रधाने लयं यातीति । तथा **सावयवम्**, अवयवाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तैः सह[3] । किञ्च **परतन्त्रं** नात्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रतन्त्राणि पञ्चमहाभूतानि च । एवं परतन्त्रं परायत्तं व्याख्यातं व्यक्तम् ।

अथाऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः—**विपरीतमव्यक्तम्** । एतैरेव गुणैर्यथोक्तैर्विपरीतमव्यक्तम्, हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्, न हि प्रधानात् परं किञ्चिदस्ति, यतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः, तस्मादहेतुमदव्यक्तम् । तथाऽनित्यं च व्यक्तं, नित्यमव्यक्तमनुत्पाद्यत्वात्, न हि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं[4] प्रधानम् । किञ्चव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानं सर्वगतत्वात् । सक्रियं व्यक्तमक्रियमव्यक्तं सर्वगतत्वादेव । तथाऽनेकं व्यक्तमेकं प्रधानं कारणत्वात्, त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं तस्मादेकं प्रधानम् । तथाश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं यस्य प्रधानं कार्यं स्यात् । तथा व्यक्तं लिङ्गम्, अलिङ्गमव्यक्तं नित्यत्वात्, महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम् । तथा सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः प्रधाने सन्ति[5] । तथा परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं प्रभवत्यात्मनः ॥१०॥

---

[1] बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रीण्याभ्यन्तरकरणानि बुद्धिकर्मभेदेन दशविधानि इन्द्रियाणि बाह्यानीत्येवं वक्ष्यमाणत्रयोदशकरणेनेत्यर्थः ।

[2] प्रतिपुरुषं बुद्ध्यदीनां भेदात्पृथिव्याद्यपि शरीरघटादिभेदादनेकविधमेवेति मिश्राः ।

[3] अवयवावयविसंयोगविशिष्टमिति तत्त्वकौमुदीकारः ।

[4] इत्यस्माद्धेतोः प्रधानमव्यक्तमुच्यत इत्यर्थः ।

[5] पृथिव्यादीनां परस्परसंयोगेऽपि प्रधानस्य न बुद्ध्यादिभिः संयोगस्तादात्म्यात्, नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः, अप्राप्तेरभावादिति मिश्राः ।

अन्वयः—व्यक्तम्, हेतुमत्, अनित्यं, अव्यापि, सक्रियम् अनेकम् । आश्रितम्, लिङ्गम्, सावयवम्, परतन्त्रम्, (भवति) अव्यक्तम्, विपरीतम् ॥ १० ॥

व्याख्या—व्यक्तम्=घट-पटादि सर्वमपि पृथिव्यन्तं पदार्थजातम् । हेतुमत्=हेतुः=कारणम्, तद्वत् । अर्थात् 'उपादानकारणवदित्यर्थः । अनित्यम्=विनाशि । अव्यापि=अव्यापकम् । सक्रियम्=क्रियावत । अनेकम्=अनेकविधम् । आश्रितम् स्वकारणाश्रितम् । लिङ्गम्=लय 'गच्छतीति' लिंगम्, लयशीलमित्यर्थः । [यथा पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीनानि भवन्ति, तन्मात्राणि 'च' स्वकारणेऽहंकारे, अहंकारश्च महति, महांश्च प्रकृतौ प्रविलीयते] । सावयवम्=अवयवानाम् अवयविनाञ्च यः परस्परं संयोगः स एव अवयवः, तेन सहितमिति सावयवम्=ससंयोगमित्यर्थः । परतन्त्रम्=परापेक्षि (दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला) । (भवति) ।

अव्यक्ते व्यक्तस्य वैधर्म्यमाह—'विपरीतमव्यक्तमित्यादिना' अर्थात् व्यक्ते ये धर्मा वर्तन्ते अव्यक्त तद्विपरीतधर्मवद् भवति, यथा अहेतुमत्-नित्यम्-व्यापकम् निष्क्रियम्-अनाश्रितम्-अलिङ्गम्-निरवयवम्-स्वतन्त्रञ्च ।

हिन्दी—अव्यक्त जो प्रकृति हैं—और व्यक्त जो प्रकृति का कार्य यह समस्त चराचर जगत् है—इन दोनों का साधर्म्य और वैधर्म्य विवेकज्ञान के होने में उपयोगी है अतः इस कारिका से व्यक्त पदार्थों का साधर्म्य और अव्यक्त का उससे वैधर्म्य केवल बतला रहे हैं—अर्थात् समस्त व्यक्त पदार्थ हेतुवाले (कारण वाले) हैं, इसीलिये अनित्य विनाशि हैं, अतएव सक्रिय हैं अर्थात् क्रियाशील हैं–वह क्रिया उनमें स्वयं ही अथवा दूसरे के द्वारा हो । समस्त व्यक्त पदार्थ अव्यापक (अव्यापि) हैं । अनेक हैं । आश्रित हैं । अर्थात् अपने २ कारण के आश्रित हैं । इसीलिये लिङ्ग अर्थात् प्रलयकाल में अपने २ कारण में लीन होने वाले हैं जैसे पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्राओं में, और पञ्चतन्मात्राएँ और ११ इन्द्रियाँ अपने कारण अहङ्कार में इत्यादि । सावयव (अवयव वाले) हैं । और परतन्त्र हैं अर्थात् अपने-अपने कारण की अपेक्षा रखने वाले हैं ।

और अव्यक्त इनके विरुद्ध धर्म वाला है अर्थात् वह हेतुमान् नहीं है अपितु 'अहेतुमान्' है, 'नित्य' है, 'व्यापक' है, 'निष्क्रिय' है,'एक' है, वह 'अनाश्रित' है अर्थात् अव्यक्त का कोई कारण ही नहीं है जिसके आश्रित हो, और कारणरहित

होने से ही वह 'अलिङ्ग' (लयरहित) है—क्योंकि कार्य का लय अपने कारण ही में होता है। 'निरवयव' है, 'स्वतन्त्र' है ॥ १० ॥

अब व्यक्त और अव्यक्त का परस्पर में साधर्म्य, और पुरुष से इनका वैधर्म्य बतलाते हैं—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

गौ०—एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते[1] यदुक्तं 'सरूपञ्च'। त्रिगुण व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति। **अविवेकि** व्यक्तं न विवेकोऽस्यास्तीति, इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति, अयं गौरयमश्व इति यथा, ये गुणास्तद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते च गुणा इति। तथा **विषयो** व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात्। तथा **सामान्यं** व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात्। **अचेतनं** व्यक्तं, सुखदुःखमोहान् न चेतयतीत्यर्थः। तथा **प्रसवधर्मि** व्यक्तं तद् यथा-बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते तस्मात् पंचतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः, एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति। तत्र त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम्, इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति, यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति। तथाऽविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते अन्ये गुणाः अन्यत् प्रधानमेव विवेक्तुं न याति तदविवेकि प्रधानम्। तथा विषयो व्यक्तं प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वात् विषय इति। तथा सामान्यं व्यक्त प्रधानमपि, सर्वसाधारणत्वात्। तथाऽचेतनं व्यक्तं प्रधानमपि सुखदुःखमोहान् न चेतयतीति, कथम्? अनुमीयते—इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते। तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानमपि प्रसवधर्मि यतः प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते। एवं प्रधानमपि व्याख्यातम्।

इदानीं तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते। तद्विपरीतस्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः पुमान्। तद् यथा-त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणः पुरुषः। अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च विवेकी पुरुषः। तथा विषयो व्यक्तमव्यक्तं

---

[1] यस्मादित्यर्थः।

च, विषयः पुरुषः। तथा सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः। अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः, सुखदुःखमोहांश्चेतयति सञ्जानीते तस्माच्चेतनः पुरुष इति। प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न हि किंचित् पुरुषात् प्रसूयते। तस्मादुक्तं तद्विपरीतः पुमानिति[1] तदुक्तं **तथा च पुमान्**' इति। तत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतुमद् यथा व्याख्यातं तथा च पुमान्, तद् यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद् व्यक्तमहेतुमत् प्रधानं, तथा च पुमानहेतुमान् अनुत्पाद्यत्वात्। अनित्यं व्यक्तं नित्यं प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान्। अव्यापि व्यक्तं व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः, सर्वगतत्वादेव। अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः[2]। आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं तथा च पुमाननाश्रितः लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तथा च पुमानप्यलिङ्गः—न क्वचिल्लीयत इति। सावयवं व्यक्तं निरवयवमव्यक्तं तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति। किंच परतन्त्रं व्यक्तं स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः ॥११॥

अन्वयः--व्यक्तम्, तथा, प्रधानम्, त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः सामान्यम्, अचेनम्, प्रसवधर्मि (भवति) तथा च, पुमान्, तद्विपरीतः, ; भवति)।

व्याख्या—व्यक्तम्=समस्तं चराचरात्मकं जगत्। तथा=तथैव च। प्रधानम्=प्रकृतिरपि, एतद्द्वयमेवेत्यर्थः। त्रिगुणम्=सुख-दुःखमोहरूपत्रिगुणवत्। अविवेकि=विवेकहीनम्। विषयः=उपभोगसाधनम्। सामान्यम्=सर्वपुरुषसाधारणम्। अचेतनम्=जडस्वभावम्। प्रसवधर्मि=प्रतिक्षणं परिणामि, कार्योत्पादनशालीत्यर्थः।

हिन्दी—इस कारिका से व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य तथा उनसे पुरुष का वैधर्म्य बतलाया जा रहा है—महत्तत्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त समस्त व्यक्त

---

[1] अत्र व्यक्ताव्यक्ताभ्यां वैधर्म्यमभिधायाव्यक्तसाधर्म्यमाहेति अपेक्षितम् एतदेव विवृणोति—तदिति।

[2] एक इति, चिन्त्यमिदं पुरुषबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तथा चैकत्वं विहाय अहेतुमत्त्वनित्यत्वव्यापकत्वनिष्क्रियत्वानाश्रितत्वालिङ्त्वनिरवयवत्वस्वतन्त्रत्वादिधर्मवत्त्वेन पुरुषस्य प्रधानसाधर्म्यमनेकत्वं च व्यक्तसाधर्म्यमिति अत्र व्याख्या युक्तेति विभावनीयम्।

पदार्थ तथा अव्यक्त (प्रकृति) ये दोनों ही 'त्रिगुण'—अर्थात् सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों से युक्त हैं । एवं 'अविवेकि' अर्थात् यह घट है—यह पट है इत्यादि ज्ञानशून्य हैं क्योंकि दोनों जड़ हैं । तथा 'विषय' हैं अर्थात् उपभोग के साधन हैं जैसे घट-पट आदि पदार्थ सब के उपभोग के साधन हैं वैसे ही प्रकृति भी पुरुष के उपभोग का साधन है क्योंकि पुरुष प्रकृति का उपभोग करता है । 'सामान्य' हैं, सर्वपुरुष साधारण हैं—अर्थात् सब पुरुषों से भोग्य हैं । अचेतन=जड़ स्वभाव वाले हैं । 'प्रसवधर्मि' प्रतिक्षण परिणामशाली हैं, जैसे मिट्टी घटरूप से तन्तु पटरूप से परिणत होते रहते हैं ऐसे ही प्रकृति भी महदाकारेण परिणत होती है ।

प्रश्न—यदि यह कहा जाय कि जब अहेतुमत्व तथा नित्यत्व यह प्रकृति का साधर्म्य पुरुष में है, और अनेकत्व व्यक्त का साधर्म्य पुरुष में है तब "तद्विपरीतस्तथा च पुमान्" यह ईश्वरकृष्ण का कथन अप्रमाणिक है ।

उत्तर—"तथा च" यहाँ पर 'च' शब्द का 'अपि' अर्थ है, अर्थात् अहेतुमत्त्वादि यद्यपि अव्यक्त वगैरह का साधर्म्य पुरुष में हैं फिर भी अत्रैगुण्य आदि रूप व्यक्त तथा अव्यक्त का वैधर्म्य भी पुरुष में हैं ॥११॥

प्रश्न—पूर्वकारिका में व्यक्त और अव्यक्त का "त्रिगुणत्व" आदि को जो साधर्म्य बतलाया गया है सो उन तीनों गुणों का लक्षण क्या है ? तथा उनका प्रयोजन क्या है ? और उनका व्यापार क्या है ?

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

गौ०—एवमेतदव्यक्तपुरुषयोः साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम्, व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यं च त्रिगुणमविवेकीत्यादि प्रकृत्यार्यायां[1] व्याख्यातम् । यत्र यदुक्तं 'त्रिगुणमिति व्यक्तमव्यक्तं च' तत् के ते गुणा इति तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह—प्रीत्यात्मका अप्रीत्यात्मका विषादात्मकश्च, गुणाः सत्वरजस्तमांसीत्यर्थः। तत्र प्रीत्यात्मकं सत्वं, प्रीतिः सुखं तदात्मकमिति । अप्रीत्यात्मकं रजः, अप्रीतिर्दुःखम् । विषादात्मकं तमः, विषादो मोहः । तथा प्रकाशप्रवृत्तिनिय

---

[1] अत्र प्रकृतार्यायामिति युक्तः पाठः, अथवा प्रकृतिसम्बन्धिन्यामित्यर्थेनायमपि समीचीन एव, प्रकृत्य प्रस्तुत्येति वा ।

मार्थाः । अर्थशब्दः सामर्थ्यवाची, प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः । प्रवृत्त्यर्थं रजः, प्रवृत्तिसमर्थमित्यर्थः । नियमार्थं तमः स्थितौ समर्थमित्यर्थः । प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा इति । **तथाऽन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च** । अन्योन्याभिभवाः अन्योन्याश्रयाः अन्योन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योन्यवृत्तयश्च ते तथोक्ताः । अन्याऽन्याभिभवा इति—अन्योऽन्यं परस्परमभिभवन्तीति प्रीत्यप्रीत्यादिभिर्धर्मैराविर्भवन्ति, यथा यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते[1] यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विशादस्थित्यामकेन इति । तथाऽन्योन्याश्रयाश्च द्वयणुकवद् गुणाः ।[2] अन्योन्यजननाः—यथा मृत्पिण्डो घटं जनयति[3] । तथाऽन्योन्यमिथुनाश्च[4] यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणाः । उक्तं च—

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः । रजसोमिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे । उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते ॥

परस्परसहाया इत्यर्थः । अन्योन्यवृत्तयश्च परस्पर वर्त्तन्ते 'गुणा गुणेषु वर्तन्त' इति वचनात् । यथा सुरूपा सुशीला स्त्री सर्वसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति, एवं सत्त्वं रजस्तमसोवृत्तिहेतुः । यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने दुष्टनिगृहे शिष्टानां सुखमुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहं च, एवं रजः सत्त्वतमसोर्वृत्तिं जनयति । तथा तमः स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्त्वरजसो-

---

[1] आविर्भवति इदमग्रिमवाक्यद्वयेऽप्यनुषञ्जनीयम् ।

[2] यथा द्वयणुका परस्परं परमाण्वाश्रितास्तथैते गुणा अप्रीत्यर्थः । सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य प्रकाशयति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवर्तयति, तम प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमयति, त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति माठरः ।

[3] अत्र 'जननं' गुणानां सदृशरूपः परिणामो ग्राह्यः, सांख्यमते आरम्भरूपस्य तस्यासम्भवादिति बोध्यम् ।

[4] अन्योन्यमिथुनवृत्तयः, अविनाभाववृत्तय इति मिश्राः । एतन्मते वृत्तिपदस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यान्योन्याभिभववृत्तय इत्यादिचतुर्णां भेदोदाहरणानि बोध्यानि ।

वृत्तिं जनयति, यथा मेघाः खमावृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्टया कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम् एवमन्योन्यवृत्तयो गुणाः ॥ १२॥

अन्वयः—गुणाः, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः, अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च, (भवन्ति) ॥ १२ ॥

व्याख्या—गुणाः=सत्त्वरजस्तमांसि 'एते' त्रयो 'गुणाः' । प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः=प्रीतिश्च अप्रीतिश्च विषादश्चेति प्रीत्यप्रीतिविषादाः, त एव आत्मानः स्वरूपाणि येषां ते प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः=सुख-दुख-मोहस्वरूपाः, अर्थात् सत्त्वगुणः प्रीत्यात्मकः (सुखस्वरूपः) रजोगुणः अप्रीत्यात्मकः (दुःखरूपः) तमोगुणः विषादात्मकः (मोहरूपः) । लक्षणम् (स्वरूपम्) उक्त्वा प्रयोजनमाह–प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः—सत्त्वगुणस्य प्रकाशः = प्रकाशकरणम् रजोगुणस्य प्रवृत्तिः = चालनम्, तमोगुणस्य नियमः = प्रतिबन्धः, अर्थः = प्रयोजनम् (अस्ति) अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च=(च=और) । वृत्तिर्व्यापारः । अन्योन्यपद वृत्तिपदं च प्रत्येकमभिसम्बध्यते अर्थात् अन्योन्याभिभववृत्तयः, अन्योन्याश्रयवृत्तयः, अन्योन्यजननवृत्तयः, अन्योन्यमिथुनवृत्तयः (भवन्ति) ।

हिन्दी—सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण ये तीनों गुण प्रीति (सुख) अप्रीति (दुःख) विषाद (मोह) स्वरूप हैं, और उनसे सत्त्वगुण का प्रयोजन प्रकाश करना है, अर्थात् सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दुर्बल बनाकर अपने घट-पट आदि के प्रकाशात्मक (ज्ञानरूप) कार्य को सम्पन्न करता है । क्योंकि घट-पट आदि विषयों का ज्ञान कराना ही सत्त्वगुण का प्रयोजन है और विभिन्न कार्यों के करने में प्रवृत्तिशील बना देना रजोगुण का प्रयोजन है तथा कार्य करते हुये व्यक्ति को विश्राम पाने के लिये रोक देना यह तमोगुण का प्रयोजन है और इसके अतिरिक्त ये तीनों गुण अपने २ कार्य को सम्पन्न करने के लिये परस्पर में अपने से इतर दो गुणोंको अभिभूत कर देते हैं । अतः वहाँ इनका अभिभव ही व्यापार हो जाता है, जैसे सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण को अभिभूत कर करके अपने प्रकाशरूप कार्य का सम्पन्न करता है । इसी प्रकार रजोगुण भी सत्वगुण-तमोगुण इन दोनों को अभिभूत करके ही अपने प्रवृत्तिरूप कार्य का सम्पादन करता है । तथा वैसे ही तमोगुण को भी दूसरे दोनों गुणों को दबाकर

ही अपने नियमन (प्रवृत्ति प्रबन्ध) रूप कार्य को-सम्पन्न करना होता है इसलिए यह इनका 'अभिनव' रूप व्यापार (वृत्ति) हो जाता है ।

और इनमें से प्रत्येक गुण को अपने २ कार्य को सम्पन्न करने के लिए दूसरे दो गुणों का सहारा लेना पड़ता है यह इनका "अन्योन्याश्रय" व्यापार है।

और इन तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण अपने से इतर दो गुणों को निर्बल बनाकर ही अपने २ कार्य का जनन कर पाते हैं, इसलिये ये तीनों गुण अन्योन्यजननरूप व्यापार वाले भी हैं ।

तथा ये तीनों गुण परस्पर में मिल जुलकर पति पत्नी के समान अपने २ कार्य का सम्पादन करते हैं अतः आपस में मिलजुलकर कार्य करना ही इनका "अन्योन्यमिथुन" व्यापार कहलाता है । जिस प्रकार संसार में स्त्री-पुरुष मिथुन के द्वारा पुत्रादिरूप कार्य का उत्पादन करते हैं उसी प्रकार ये भी मिथुनीभूत होकर ही सृष्टिरूप कार्य को उत्पन्न करते हैं ॥ १२ ॥

अब प्रश्न यह होता है कि पूर्व में .व्यक्त-अव्यक्त का "त्रिगुणत्व" साधर्म्य बतलाया और उन तीनों गुणों के प्रकाश प्रवृत्ति-नियम ये तीन प्रयोजन बतलाये थे । सो वे तीन गुण कौन २ हैं, और उनमें किसका कौन २ प्रयोजन है ? तथा अपने २ व्यापार का संपादन किस प्रकार से करते हैं ?

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरु वरणकमेव तम, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

गौ॰—किञ्चान्यत्–**सत्त्वं लघु प्रकाशकं च**, यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा लघुन्यङ्गानि बुद्धिप्रकाशश्च प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति, उपष्टम्भकं चलं च रजः, उपष्टभ्नातीत्युपष्टम्भकमुद्द्योतकं, यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति एवं रजोवृत्तिः । तथा रजश्च चलं दृष्टं, रजोवृत्तिश्चलचित्तो भवति । **गुरु वरणकमेव तमः**, यदा तम उत्कटं भवति तदा गुरूण्यङ्गान्यावृतानीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थासमर्थानि, अत्राह[1] 'यदि गुणाः पस्परं विरुद्धाः स्वमतेनैव कमर्थं निष्पादयन्ति, तर्हि कथं ?'[2] **प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः**, प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत्

---

[1] पूर्वपक्षीत्यर्थः ।

[2] समाधत्ते—प्रदीपवदिति ।

अर्थत:[1] साधना वृत्तिरिष्टा, यथा प्रदीप: परस्परविरुद्धतैलाग्निवर्तिसंयोगादर्थप्रकाशान् जनयति एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यर्थं निष्पादयन्ति ।

अन्वय:—सत्त्वम् लघु, प्रकाशकम्, (सांख्यै:) इष्टम् रज: उपष्टम्भकम्, चलञ्च, (इष्टम्) तम: गुरु, वरणकमेव, (इष्टम्) (एतेषां) वृत्तिः, अर्थत:, प्रदीपवत् (वर्त्तते) ॥ १३ ॥

व्याख्या—सत्त्वम्=सत्त्वगुण: । लघु=लघुस्वभावम् । तवियत को हल्की बनाने तथा रखने वाला) । प्रकाशकम्=घट-पट-आदिविषयप्रकाशकम् । सांख्यै: इष्टम्=अभिमतम् । रज:=रजोगुण: । उपष्टम्भकम्=ततत्कार्येषु प्रवृत्तिप्रयोजकम् । च । चलम्=सक्रियम् । (सांख्यै:) इष्टम्=स्वीकृतम् । तम:=तमोगुण: । गुरुस्वभावम् (तबियत को भारी बनाने तथा रखने वाला) । वरणकम्=आवरणशालि प्रवृत्ति-विरोधि (सांख्यै: स्वीकृतम्) । शङ्कते यत् परस्परं विरोधशीला गुणा: कथ मिलित्वा स्वस्वकार्यं कर्तुं प्रभविष्यन्ति इत्यत आह—"प्रदीपवच्चार्थत" (एतेषां त्रयाणां गुणानाम्) वृत्ति:=प्रवृत्ति: । अर्थत: । पुरुषार्थत: । प्रदीपवत् अर्थात् वर्त्तितैलाग्नय: परस्परं विरोधशीला अपि मिलित्वा स्वीयं प्रकाशस्वरूपं कार्यं प्रकुर्वन्ति यथा वा वातपित्तश्लेष्माण: परस्पर विरोधिनोऽपि शरीरस्वास्थ्यसम्पादनात्मकं कार्यं कुर्वन्ति तथैव परस्परं विरोधिनोऽपि इमे त्रयो गुणा अन्योन्यं मिलित्वा भोगापवर्गरूपं पुरुषार्थं सम्पादयन्ति ॥ १३ ॥

हिन्दी—सत्वगुण लघु है अर्थात् शरीर-मस्तिष्क तथा इन्द्रियों आदिको को हलका रखने वाला है । तथा घट-पट आदि समस्त विषयों का प्रकाश कराने वाला है अर्थात् सत्वगुण के आधिक्य होने पर इन्द्रियाँ झटिति विषय का ग्रहण कर लेती हैं । इसलिये सांख्यमत में सत्वगुण के 'लघुत्व' और 'प्रकाशकत्व' ये दो लक्षण बन जाते हैं ।

और रजोगुण उपष्टम्भक अर्थात् प्रवृत्ति का कारण तथा चल अर्थात् चलात्मक और क्रियावाला होता है अत: उपष्टम्भकत्व (प्रवर्त्तकत्व) तथा सक्रियत्व रजोगुण के लक्षण हुये ।

तथा तमोगुण को शरीर-इन्द्रिय-मस्तिष्क आदि में गुरुत्व (भारीपन) होने के कारण, तथा किसी भी प्रकार के कार्य की रुकावट होने में कारण माना है । क्योंकि शरीर आदि में भारीपन तथा कार्यमात्र की रुकावट एकमात्र आलस्यजन्य

---

[1] पुरुषार्थवशादित्यर्थः ।

ABOHAR

हैं और आलस्य तमोगुणजन्य है। अतः गुरुत्वप्रतिबन्धकत्व से तमोगुण के लक्षण हुये।

अब प्रश्न यह होता है कि परस्पर में विरोधी स्वभाववाले ये तीनों गुण आपस में मिलकर किसी भी कार्य को कैसे सम्पन्न कर सकेंगे ?

उत्तर—जिस प्रकार दीपक के अन्दर वत्ती-तेल-अग्नि ये तीनों परस्पर में विरोधी होते हुए भी आपस में मिलकर प्रकाशरूप कार्य को सपन्न करते हैं उसी प्रकार ये तीनों गुण आपस में मिलकर ही भोगापवर्गरूप कार्य को करते हैं॥१३॥

प्रश्न—११ वीं कारिका में कथित अविवेकित्व विषयत्व अचेतनत्व आदि धर्मों को सिद्ध प्रकृति में कैसे हुयी ?

अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

गौ०—अन्तरप्रश्नो भवति-'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादिना प्रधानं व्यक्तं च व्याख्यातं, तत्र प्रधानमुपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्, अविवेक्यादीति च कथमवगम्यते ?' तत्राह-योऽयमविवेक्यादिगुणः स त्रैगुण्यात् । 'महदादौ व्यक्ते नायं सिद्धयति' अत्रोच्यते तद्विपर्ययाभावात्, तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययस्तस्याभावस्तद्विपर्ययाभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम्[1] । यथा यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ? तद्विपर्ययाभावात् । एवं व्यक्ताव्यक्तसम्पन्नो भवति[2], दूरं प्रधानमासन्नं व्यक्त, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाभवात् । इताश्चाव्यक्तं सिद्ध कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य, लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति । एवं महदादिलिङ्गमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि, यदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

अन्वयः—अविवेक्यादेः, सिद्धिः, त्रैगुण्यात्, तद्विपर्ययाभावात् (भवति) कार्यस्य, कारणगुणात्मकत्वात्, अव्यक्तमपि, सिद्धम् ।

व्याख्या-अविवेक्यादेः=अविवेकित्वादिधर्मस्य । सिद्धिः=निश्चयः । त्रैगुण्यात्=त्रिगुणत्वरूपहेतुतः, (त्रैगुण्यरूपहेतुकानुमानात्) भवति इति शेषः । (अनुमानञ्च-

---

[1] अत्रैगुण्याभावाद अव्यक्तमविवेक्यादिगुणवदिति सिद्धमित्यर्थः ।

[2] आविवेक्यादिर्गुण इति शेषः ।

प्रधानम् (अव्यक्तम्) “अविवेकित्वादिधर्मवत्—सुख-दुःख-मोहात्मकत्रैगुण्यात् घटादिवत् यत्र २ सुख-दुःख-मोहात्मकं त्रैगुण्यं वर्तते तत्र २ अविवेकित्वादिधर्माः अपि यथा घट पटादिव्यक्तेषु ।)

व्यतिरेकव्याप्तिमपि दर्शयति “तद्विपर्ययाभावात्” तस्य=अविवेकित्वादि-साध्यरूपधर्मस्य, विपर्ययो यत्र (पुरुषे) तत्र त्रैगुण्यरूपहेतोरपि अभावो वर्त्तते । अर्थात् यत्र अविवेकित्वादिरूपं साध्यं नास्ति तत्र त्रैगुण्यरूपहेतुरपि नास्ति यथा पुरुषे । तथा च इदमनुमानं संपन्नम् “व्यक्ताव्यक्ते अविवेकित्वादिधर्मवती त्रैगण्यात् यन्नैवं तन्नैवं यथा पुरुषः” इति व्यतिरेक्यनुमानतोऽपि अविवेकित्वादिधर्माणां सिद्धिर्बोद्धव्या ।

ननु अव्यक्तमेव तु नेदानीं सिद्धम्—कुतस्तत्राऽविवेकित्वादिधर्माणां सिद्धिः स्यात्, अत आह—कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य । अर्थात् कार्यस्य=घट-पटादि-रूपमहत्तत्त्वपर्यन्तकार्यस्य । कारणगुणात्मकत्वात्=कारणगुणानुरूपत्वात्, अर्थात् यादृशं कारणं भवति तादृशमेव कार्यं ततः समुत्पद्यते इति लोके दृश्यते, यथा मृत्तिकारूपकारणतः मृन्मय एव घटः समुत्पद्यते न तु सौवर्णो घटः, एव तन्तुरूप-कारणेभ्यः पट एवोत्पद्यते नापि घटः, तत्रापि रक्ततन्तुभ्यो रक्तपटः एवोत्पद्यते न तु शुक्लः पटः । एवं सुखदुःखमोहरूपत्रिगुणात्मकस्य कार्यस्य कारणमपि त्रिगुणात्मकमेव भवितुमर्हति—तच्च कारणम् अव्यक्तमेवेति भावः । तदेवोक्तम्—अव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

हिन्दी—अव्यक्त (प्रकृति) में “अविवेकित्व-विषयत्व-सामान्यत्व अचेतनत्व-प्रसवधर्मित्व’ इन धर्मों की सिद्धि त्रैगुण्यहेतु से (त्रैगुण्यहेतुकानुमान से) होती है । अर्थात् “यत्र २ त्रैगुण्यं तत्र २ अविवेकित्वादयो धर्माः’ जैसे घट-पट आदि में, यहां यह अन्वयव्याप्ति है और इस अन्वयव्याप्ति के आधार पर यह अनुमान सम्पन्न हो जाता ,है कि—अव्यक्त अविवेकित्व-विषयत्व-आदि धर्मों वाला है—त्रिगुण होने से घट-पट आदि की तरह ।

यह अन्वयव्यतिरेकी अनुमान होने के नाते अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनों से साध्य है । अन्वयव्याप्ति बतला चुके अब यतिरेकव्याप्ति को बतलाते हैं—‘तद्विपर्ययाभावात्’ अर्थात् जहाँ अविवेकित्व-विषयत्व आदि साध्यस्वरूपधर्मों का विपर्यय (अभाव) है वहां त्रैगुण्य का भी अभाव है, जैसे पुरुष में, अतः व्यक्त और अव्यक्त-त्रैगुण्यरूपहेतुवाली होनेसे अविवेकित्वविषयत्व-सामान्यत्व आदि

साध्यरूपधर्मवाले हैं—(यन्नैवं तन्नैवम्) अर्थात् जहाँ अविवेकित्व आदि साध्य-धर्म नहीं हैं वहाँ त्रैगुण्यरूपहेतु भी नहीं है जैसे पुरुष में ।

प्रश्न—अभीतक जब कि अव्यक्त (प्रकृति) ही सिद्ध नहीं हुआ तबतक उसमें अविवेकित्व आदि धर्मों की सिद्धि कैसे हो सकती है ।

उत्तर—"कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य" अर्थात् समस्त कार्य घट-पट आदि जब कि सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक हैं तब इसका कारण भी ऐसा ही होना चाहिये जो स्वयं भी त्रिगुणात्मक हो-सो इस त्रिगुणात्मक कार्य का जो भी त्रिगुणात्मक कारण है वही अव्यक्त (प्रकृति) है, इस प्रकार से अव्यक्त की भी सिद्धि हो जाती है ॥ १४ ॥

प्रश्न—जब कि परमाणुओं से ही द्व्यणुकादिक्रम से पृथ्वी आदि व्यक्त सृष्टिरूप कार्य उत्पन्न हो सकता है तथा कारणगुणक्रम से पृथिवी आदि में रूप रस इत्यादि गुण उत्पन्न हो सकते हैं तब तो व्यक्त से ही व्यक्त की उत्पत्ति हो गयी फिर व्यक्तोत्पत्ति के लिये क्या आवश्यकता है अव्यक्त की ?

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य ॥ १५ ॥
कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

गौ०—'त्रैगुण्याद विवेक्यादिर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्, एवं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमित्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, इति न वाच्यम्, सतोऽपि पाषाणगन्धादेरनुपलम्भात्, एवं प्रधानमप्यस्ति किन्तु नोपलभ्यते, तदाह—कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः । **भेदानां परिमाणात्**—लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टं यथा कुलालः परिमितैर्मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति, एवं महदपि महदादिलिङ्गं परिमितं भेदतः प्रधानकार्यमेका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानीत्येवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं यद् व्यक्तं परिमितमुत्पादयति, यदि प्रधानं न स्यात् तदा निष्परिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदा-

नामस्ति प्रधानं यस्माद् व्यक्तमुत्पन्नम् । तथा **समन्वयात्** इह लोके प्रसिद्धिर्दृष्टा, यथा व्रतधारिणं वटुं दृष्ट्वा समन्वयति[1] नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणाविति एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् कारणं[2] भविष्यतीति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम् । तथा **शक्तितः प्रवृत्तेश्च** इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न पटं रथं वा । तथा अस्ति प्रधानं कारणं, कुतः ? **कारणकार्यविभागात्**—करोतीति कारणम् क्रियत इति कार्यम् कारणस्य च विभागो यथा—घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो न तथा तत्कारणं मृत्पिण्डः, मृत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति न चैवं घटो मृत्पिण्डम्, एवं महदालिङ्गं दृष्ट्वानुमीयते—अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं व्यक्तमिति[3] । इतश्च **अविभागाद् वैश्वरूपस्य**—विश्वं जगत् तस्य रूपं व्यक्तिः, विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूपं, तस्याविभागादस्ति प्रधानम्, यस्मात् त्रैलोक्यस्य पञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं विभागो नास्ति महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति एतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले सृष्टिक्रमेणैवाविभागं यान्ति तन्मात्रेषु परिणामिषु तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे अहङ्कारो बुद्धौ बुद्धिः प्रधाने, एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृतावविभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागात् क्षीरदधिवद्[4] व्यक्ताव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम् ॥ १५ ॥

---

[1] समानरूपं कारणं साधयति ।

[2] तत्त्रिगुणं भविष्यतीत्यर्थः ।

[3] कारणे कार्यस्य सत्त्वाद्यथा कर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते, एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाविर्भवन्ति विभज्यन्ते, तथा पृथिव्यादीन्यपि तन्मात्रादिरूपकारणादाविर्भवन्ति विभज्यन्त इति अव्यक्तपर्यन्तं स्वस्वकारणाद्विभाग इति मिश्राः ।

[4] प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो निविशमानास्तिरोभवन्ति तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्तकार्यापेक्षयाऽव्यक्तमिति व्यवह्रियते एवं पृथिव्यादयोऽपि तन्मात्रादिकारणं विशन्त स्वस्वकारणमव्यक्तयन्तीति सोऽयमविभागो वैश्वरूपस्य कार्यस्येति वाचस्पतिमतम् ।

अतश्च अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति यस्मान्महदादिलिङ्गं प्रवर्तते। **त्रिगुणतः** त्रिगुणात्, सत्वरजस्तमांसि गुणा यस्मिन् तत् त्रिगुणम्। तत् किमुक्तं भवति? सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्[1]। तथा **समुदयात्**, यथा गङ्गास्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति, यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। [2]'यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्'। नैष दोषः, **परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।** एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुखेन, तिर्यञ्चो मोहेन, एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद् भवति प्रतिप्रतीति वीप्सा, गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषस्तं गुणाश्रयविशेषं प्रति निधाय[3] प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषपरिणामात् प्रवर्ततेऽव्यक्तं, यथा—आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद् भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः[4] एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तसुखिनः, मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्त्वतमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः, तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः॥ १२॥

अन्वयः—भेदानाम्, कारणम्, अव्यक्तम्, अस्ति, (कुतः) परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च, कारणकार्यविभागात्, वैश्वरूप्यस्य अविभागात्

---

[1] परिणामस्वभावानां गुणानां क्षणमपि परिणामं विहायावस्थानाऽसंभवात्सत्त्वादिरूपतया प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति मिश्राः। प्रधाने सत्त्वादीनामवस्थानात् बहुत्वसंभवात्त्रिगुणतः प्रवृत्तिस्त्रिधा व्यवहारोऽत्र एकस्मात्तन्तोः पटासंभववत्कथमेकं प्रधानमनेककार्यजनकमिति निरस्तमिति माठरः।

[2] शङ्कते यस्मादिति। एकरूपात्कारणात्कथं विचित्रकार्योत्पत्तिरिति शंकाभिप्रायः। समाधत्ते–नैष इति।

[3] अवलम्ब्य।

[4] नारिकेलतालतालीबिल्वचिरबिल्वतिन्दुकामलककपित्थफलाश्रितैस्तत्तद्रसैरित्यर्थः।

(तच्च अव्यक्तम्) त्रिगुणतः, समुदयाच्च, प्रवर्तते, प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्, परिणामतः, सलिलवत् ॥ १५-१६ ॥

व्याख्या—भेदानाम्=परस्परविभिन्नमहदादिकार्याणाम् । कारणम्=मूलभूतमुपादानं कारणम् । अव्यक्तम्=प्रकृतिः । अस्ति । (कुतः) परिमाणात्=परिमितत्वात्–अव्यापित्वात् । अत्रानुमानम्—"महदादयः अर्थात् महत्तत्त्वादिपृथिव्यन्ताः पदार्थाः अव्यक्तकारणवन्तः–परिमितत्वात्–घट पटादिवत्" । समन्वयात्=सुखदुःखमोहात्मसमानरूपवत्त्वात्, अर्थात् महत्तत्त्वादिपृथिव्यन्ताः सर्वेऽपि पदार्थाः सुख-दुःख-मोहात्मका दृष्टा अतस्तथाविधेनैव तेषां कारणेनापि भवितव्यम्, तादृशं च कारणम् अव्यक्तमेव, अत्रानुमानम्–"महदादयः अव्यक्तकारणवन्तः समन्वयात्, सुखदुःखमोहात्मकत्वात् घटादिवत्" ।

कारणकार्यविभागात्=प्रधानात्मकाव्यक्तरूपकारणात् महदादिभूम्यन्तसमस्तकार्याणाम् आविर्भाव–(उत्पत्ति) रूपविभागदर्शनात् । अर्थात् प्रकृतिरूपाव्यक्तकारणत एव महत्तत्त्वादि भूम्यन्ताः सर्वेऽपि कार्योद्भूतपदार्था विभज्यन्ते (उत्पद्यन्ते) इत्येतेषामुत्पादकत्वेन अव्यक्तमवश्यं स्वीकार्यम् ।

वैश्वरूपस्य अविभागात्=वैश्वरूपस्य=जगतः, अविभागात्=तिरोभावात्, अर्थात् प्रलयकाले जगतो यस्मिन् कारणे तिरोभावो भवति तदेव अव्यक्तं कारणम् ।

अव्यक्तं साधयित्वा तस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—'प्रवर्तते त्रिगुणतः' अर्थात् अव्यक्तं त्रयाणां गुणानां सदृशरूपेण परिणमते, गुणानां परिणामो हि स्वभावः अतस्ते क्षणमप्यपरिणम्य नावतिष्ठन्ते, तथा च प्रलये सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजो रूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रवर्त्तते, त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था हि प्रकृतिः ।

'समुदयाच्च' सृष्टिकाले इमे त्रयो गुणा मिलित्वा महत्तत्त्वमारभ्य पृथिव्यन्तानि समस्तानि कार्याणि कुर्वन्ति । तथा च त्रयो गुणा उपमर्द्योपमर्दकभावेन परस्परं मिलित्वा महदादिरूपेण प्रवर्तन्ते ।

प्रलये स्व-स्व-रूपेण परिणतानां अर्थात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया परिणतानाम् अर्थात् एकरूपाणां गुणानां सृष्टिकाले अनेकरूपेण प्रवृत्तिर्दृश्यते येन विचित्रं कार्यं भवति तत् कथम् ? अर्थात् एकरूपाणां

गुणानामनेकरूपा प्रवृत्तिः कथमित्यत आह—"परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्" अर्थात् गुणानामाश्रयभेदेन परिणामभेदो जायते यथा आकाशात् पतितं तोयं सर्वथा एकरसमपि वर्तते, परन्तु नानाभूमिविकारानासाद्य नारिकेल-ताल-बिल्व-आमलकेत्यादिपदार्थानां रसः अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्ताद्यनेकप्रकारको भवति, तथैव इमेऽपि त्रयो गुणाः परस्परवैषम्यवशात् अनेकस्वभावा जायन्ते। यथा गुणानां वैषम्यात् देवेषु उत्कृष्टं सत्त्वं भवति, मनुष्येषु रजोगुण उत्कृष्टो भवति, पक्षिप्रभृतिषु तम उत्कृष्टं भवति, तथा च एवंविध-देव-मनुष्य-पक्षि-आदि-आश्रयाणां विशेषात् (भेदात्) अनेकस्वभावा गुणा जायन्ते येन तेषामनेकरूपा प्रवृत्तिर्भवति विचित्रं च कार्यं जायते ॥ १५-१६ ॥

हिन्दी—परस्पर में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले जो भेदस्वरूप महदादि (महत्तत्त्व आदि) कार्य हैं उनका कोई 'अव्यक्त' नाम का कारण अवश्य है जिसमें कि महदादि रूप कार्य अव्यक्त रूप से रहता है। अव्यक्त का साधक प्रथम हेतु है 'परिमाणात्' जिसका अर्थ सांख्य ने यहाँ परिमित=अव्यापी याने व्याप्य किया है। अर्थात् जो कारण अपने में कार्य को व्याप्त करके याने अपने में सन्निविष्ट करके रहे वही 'अव्यक्त' है। जैसे घट आदि मिट्टी से बने हुए पदार्थों का मिट्टी ही अव्यक्त कारण है। क्योंकि घट आदि मिट्टी ही में अव्यक्त रूप से रहते हैं वैसे ही महत्तत्त्व आदि कार्यों का भी कोई 'अव्यक्त' कारण है जो कि महत् आदि कार्यों को अपने में अव्यक्त रूप से व्याप्त करके रहता है उसी को 'प्रकृति' 'प्रधान' इन शब्दों से भी कहा है।

'समन्वयात्' यह अव्यक्त का साधक दूसरा हेतु है। इसका अर्थ है समानरूपता, अर्थात् महत्तत्त्व आदि पदार्थ जैसे सुख-दुःख मोहात्मक हैं इसी प्रकार अव्यक्त (प्रकृति) भी त्रिगुणात्मक होने के कारण सुख-दुःख-मोहरूप है, क्योंकि कार्य के अनुरूप ही कारण होता है। वही कारण अव्यक्त (प्रकृति) है।

"शक्तितः प्रवृत्तेश्च" यह तीसरा हेतु है, जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है उस कारण शक्ति के द्वारा वही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मिट्टी से घट, तिलों से तैल, सो इसी प्रकार महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त कार्यों को उत्पन्न करने की साक्षात्-परम्परा साधारण शक्ति का आश्रयीभूत जो कारण है वही अव्यक्त (प्रकृति) है।

"कारणकार्यविभागात्" समस्त कार्यों का विभाग (आविर्भाव=उत्पत्ति) अपने-अपने कारणों से होती है, जैसे मिट्टी से घट की, तन्तुओं से पट की, इसी प्रकार महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त कार्यों की साक्षात्-परम्परया उत्पत्ति अव्यक्त से होती है अत: उसी अव्यक्त रूप कारण को समस्त चराचर जगत् का कारण सांख्य ने माना है।

"अविभागाद्वैश्वरूपस्य" महत्तत्व से पृथिव्यन्त समस्त कार्य प्रलयकाल में जिस अव्यक्त रूप कारण में अविभक्त (विलीन) हो जाते हैं वही अव्यक्त रूप कारण प्रकृति है।

इन पांच कारणों से अव्यक्त सिद्ध हुआ अब उसकी प्रवृत्ति का प्रकार बतलाते हैं—

"प्रवर्त्तते त्रिगुणत: समुदयाच्च" तीनों गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त कहते हैं और वे तीनों गुण प्रलयकाल में समान रूप से परिणत होते रहते हैं। जैसे सत्त्व सत्त्वरूप से, रजोगुण रजोरूप से, तम तमोरूप सें, क्योंकि गुणों का परिणत होते रहना ही स्वभाव है—बिना परिणाम के ये तीनों गुण एक क्षण भी नहीं रह पाते हैं, अत: प्रलयकाल में अव्यक्त का तीनों गुणों का समानरूप से परिणाम भाव चलता ही रहता है।

"समुदयाच्च" और प्रकृति पुरुष का संयोग हो जाने पर इन तीनों गुणों की समानता में विकार उत्पन्न हो जाता है। इसलिए सृष्टिकाल में ये तीनों गुण आपस में मिलकर ही महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त समस्त कार्यों को उत्पन्न कर पाते हैं। और इसी समय इनका जमकर संघर्षात्मक युद्ध भी होता है जिस संघर्ष में एक गुण अपने से इतर दो गुणों का उपमर्दन करता है और उन दो गुणों को उपमर्दित होना पड़ता है। जैसे कई व्यक्ति मिलकर कोई कार्य करते हैं और उसमें संघर्ष उपस्थित हो जाने पर एक व्यक्ति अपनी प्रबल शक्ति के आधार पर इतर व्यक्तियों को दबाकर अपना उल्लू सिद्ध कर ही लेता है। इसी उपमर्द्योपमर्दकभाव के आधार पर होनेवाली गुणों की प्रवृत्ति से सुख-दु:ख-मोहादिस्वरूप अनेक विचित्र कार्य देखने में आते हैं।

प्रश्न—प्रलयकाल में ये तीनों गुण जबकि अपने २ असली प्रत्येक रूप में स्थिर रहते हैं जैसे सत्त्व-सत्त्वरूप से, रजोगुण रजोरूप से, तम तमोरूप से, तब

फिर सृष्टिकाल में इनकी अनेक रूपवाली विचित्र प्रवृत्ति क्यों देखने में आती है?

उत्तर—"परिणामतः सलिलवत् प्रति-प्रतिगुणाश्रयविशेषात्" अर्थात् यद्यपि ये तीनों गुण एकरूप हैं फिर भी इन गुणों के आश्रय भिन्न-२ हैं अतः आश्रयभेद से इनका परिणामभेद देखने में आता है। जैसे देवताओं में तीनों गुणों के होते हुए भी सत्त्वगुण प्रधान होने के नाते वे सात्विक कहे जाते हैं, मनुष्यलोग रजोगुण की प्रधानता के कारण राजसिकवृत्ति वाले कहे जाते हैं, इसी प्रकार पक्षियों में तमोगुण की प्रधानता है अतः वे तामसवृत्ति सम्पन्न होते हैं। ऐसे ही एक ही माता से उत्पन्न हुए वालक भिन्न-२ प्रवृत्ति एवं स्वभाव वाले देखने में आते हैं, उसका कारण एकमात्र वालकरूप-आश्रयभेद-प्रयुक्तगुणभेद ही है।

इसी प्रकार आकाश से विन्दु के रूप में गिरा हुआ जल एकरस होता हुआ भी नाना भूमि विकारों को प्राप्त करके नारियल-ताड़ी-वेल-आंवला आदि पदार्थों के रस में परिणत होता हुआ कहीं खट्टा कहीं मीठा कहीं तीता अनेक प्रकार का हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

गौ०—एवमार्याद्वयेन प्रधानस्यास्तित्वमवगम्यते, इतश्चोत्तरं पुरुषास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह। यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यत' इति, तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत्, पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्याधुनाऽनुमितास्तित्वं प्रतिक्रियते।[1] अस्ति पुरुषः, कस्मात्? सङ्घातपरार्थत्वात्—योऽयं महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थं इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात् पर्यङ्कवत्, यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलकपादपीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो न हि स्वार्थः, पर्यङ्कस्य न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति, अतोऽवगम्यतेऽस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते यस्यार्थं पर्यङ्कस्ततपरार्थम्[2] इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादिसङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति। इतश्चात्मास्ति—त्रिगुणादिविपर्ययात्। यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां 'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि, तस्माद्विपर्ययात्, येनोक्तं

---

[1] अनुमानेनास्तित्वं प्रतिष्ठाप्यत इत्यर्थः।

[2] पर्यङ्कवदिति दृष्टान्ते परार्थत्वं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिके तत्साधयति—इदमिति।

तद्विपरीतस्तथा च पुमान् । अधिष्ठानात्, यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति[1] तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते । अतोऽस्त्यात्मा—भोक्तृत्वात् यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायषड्रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते[2] एवं महदादिलिङ्गस्य भोक्तृत्वाभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति । इतश्च कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च केवलस्य भावः कैवल्यं तन्निमित्तं या च प्रवृत्तिस्तस्याः स्वकैवल्यार्थे प्रवृत्तेः[3] सकाशादनुमीयते—अस्त्यात्मेति, यतः सर्वो विद्वानविद्वांश्च संसारसन्तानक्षयमिच्छति । एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीराद् व्यतिरिक्तः ॥ १७ ॥

अन्वयः—पुरुषः अस्ति, संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात् अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।

व्याख्या—(यहाँ पर पुरुष पक्ष है—अस्तितत्व साध्य है—और पुरुष के अस्तित्व को पांच हेतुओं के द्वारा सिद्ध किया जाता है)—संघातपरार्थत्वात्=संहन्यन्ते=एकत्रीभवन्ति, सुखदुःखमोहा यत्रासौ संघातः=जडसमुदायः, तस्य—परार्थत्वात् = पुरुषोपभोगात्मकार्थसाधनत्वात् । लोके सर्वेऽपि जडभूताः पर्यङ्कगृहादिपदार्थाः परार्था अर्थात् चेतनपुरुषप्रयोजनका दृष्टाः, चेतन एव पुरुषः पर्यङ्कस्योपरि शयनं करोति, (मरे हुए को बल्कि खटिया से नीचे उतार दिया जाता है) एवं चेतन एव पुरुषः गृहेऽपि निवसति, (मरे हुए को घर से निकाल कर श्मशान आदि स्थानों में भेज दिया जाता है) अतो यस्य चेतनपुरुषस्य कृते इमे पर्यङ्कगृहादिपदार्थाः प्रयोजनवन्तो दृश्यन्ते स एव चेतनपुरुष आत्मभूतः सांख्यपुरुषः ।

हेत्वन्तरमाह—त्रिगुणादिविपर्ययत्वात्=सुखदुःखमोहत्रैगुण्याभावात् । (जो वस्तु सुखदुःखमोहरूपत्रिगुणात्मक है वह जड़ है जैसे घट-पट आदि और जहाँ त्रिगुणादि (आदिपदग्राह्य अविवेकित्व) विषयत्व-सामान्यत्व-अचेतनत्व-प्रसवधर्मित्व) नहीं हैं अर्थात् त्रिगुणादि का विपर्यय है वही सांख्याभिमतपुरुषस्वरूप

---

[1] अत्र शरीरं प्रयत्नवदात्माधिष्ठितं चेष्टावत्त्वाद् रथवदित्यनुमानप्रयोगो द्रष्टव्यः ।

[2] अन्नस्य भोक्तृत्वाभावाद् भोग्यत्वेन भोक्ता देवदत्तादिः यथा साध्यतइत्यर्थः ।

[3] मुमुक्षूणां शास्त्राणां चेति शेषः ।

आत्मा (जीवात्मा) है। इससे भी पुरुष का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है—) पुरुषः अस्ति (अस्तितावान्-स्वनिरूपितसत्तावान्) त्रिगुणादिविपर्ययात्-वेदान्तब्रह्मवत् । (सांख्यलोग पुरुषस्वरूप आत्मा का अस्तित्व पाँच हेतुओं से सिद्ध करते हैं—) तृतीयं हेतुमाह–अधिष्ठानात्, =अधिष्ठातृत्वात्, (प्रेरकत्वात्–सञ्चालनकर्तृत्वात्) यथा लोके इदं दृश्यते यत् सारथिनाऽधिष्ठितः =प्रेरित एव रथश्चलति तथा सर्वमपि जड़भूतं वस्तु चेतनपुरुषाधिष्ठितमेव प्रवर्तते स एव चाधिष्ठाता चेतनः पुरुषपदाभिधेय आत्मा, तथा च 'पुरुषः–अस्ति–अधिष्ठानात् (जडवर्गसञ्चालनकर्तृत्वात्) यन्नैवं तन्नैवं शशशृङ्गवत्' ।

चतुर्थं हेतुमाह—भोक्तृभावात् =भोक्तृत्वात्, लोके घट-पटादिभोग्यपदार्थान् दृष्ट्वा तेषां भोक्ता यथा कश्चिच्चेतनोऽनुमीयते, तथा बुद्ध्यादिसमस्तजडपदार्थानामपि भोक्ता चेतनः पुरुषोऽवश्यमस्ति–स एव सांख्यपुरुष आत्मा । तथा च अनुमानम्–"पुरुषः अस्ति–भोक्तृभावात्–मायोपहितब्रह्मवत्" ।

पञ्चमं हेतुमाह–कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः=आत्यन्तिक–ऐकान्तिकदुःखत्रयप्रशमनरूपकैवल्यार्थं प्रवृत्तिदर्शनात् । सा च कैवल्यार्थं प्रवृत्तिर्न बुद्ध्यादीनामपि तु पुरुषस्यैव । तथा च पुरुषः अस्ति कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः 'महर्ष्यादिवत्' इत्यनुमानेनापि शरीराद् व्यतिरिक्तः पुरुष आत्मा सिद्धः ॥ १७ ॥

हिन्दी—अब इस कारिका से अनुमान के आधार पर पुरुष (आत्मा =जीवात्मा) को सिद्ध करते हैं–जिस अनुमान में प्रथम हेतु है—(१) 'संघात् परार्थत्वात्'–अर्थात् जितना भी संघात =भोग्य पदार्थ है वह 'परार्थ' अर्थात् पर जो चेतन पुरुषस्वरूप आत्मा है उसके 'अर्थ' प्रयोजन के लिये है, क्योंकि लोक में जितने भी संघात =भोग्य सुन्दर पदार्थ तेल-फुलेल, पलङ्ग, आसन आदि देखने में आते हैं उन सबको देखकर यह अनुमान होता है कि इनका भोक्ता कोई चेतन व्यक्ति अवश्य है वही चेतनपुरुष शरीरव्यतिरिक्त आत्मा है ।

(२) 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' इस द्वितीयहेतु की हिन्दी व्याख्या की जा चुकी है ।

(३) 'अधिष्ठानात्'–इस तृतीयहेतु से भी पुरुष (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । अधिष्ठान शब्द का अर्थ है प्रेरित करने वाला अर्थात्

सञ्चालन करने वाला । हम लोक में देखते हैं कि सारथिरूप चेतन से व्यक्ति प्रेरित अथवा सञ्चालित हुआ रथ जैसे अपने वहन आदि कार्य को सम्पन्न करता है उसी प्रकार संसार की सभी जड़भूत वस्तुयें चेतन पुरुष से अधिष्ठित अर्थात् प्रेरित होकर ही अपने-अपने कार्यक्षम देखी जाती हैं, सो इनका जो अधिष्ठाता (प्रेरक) है वही सांख्यपुरुष आत्मा है ।

(४) 'भोक्तृभावात्' इस हेतु से भी बुद्धि आदि समस्त जड़ पदार्थों का भोक्ता चेतन पुरुष कोई अवश्य है यह सिद्ध होता है वही सांख्य पुरुष आत्मा है ।

(५) 'कैवल्यार्थं प्रवृत्ते' पञ्चम हेतु से भी यह सिद्ध होता है कि कैवल्यरूप मोक्ष के लिये प्रवृत्तिशील कोई जड़पदार्थ न होकर चेतन ही हो सकता है बस, यही चेतन सांख्यपुरुष आत्मा है ।

अव प्रश्न यह होता है कि वह पुरुषस्वरूप आत्मा प्रति शरीर में एक है अथवा अनेक ? ।। १४ ।।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। १८ ।।

गौ०—'अथ स किमेकः सर्वशरीरेऽधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत् आहोस्विद् बहव आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार' इत्यत्रोच्यते—जननञ्च मरणञ्च करणानि च जननमरणकरणानि तेषां **प्रतिनियमात्**, प्रत्येकनियमादित्यर्थः । यद्येक एव आत्मा स्यात् तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्, एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्यान्धत्वमूकत्वकुणित्वखञ्जत्वलक्षणे सर्वेऽपि वधिरान्धमूककुणिखञ्जाः स्युः, न चैवं भवति, तस्माज्जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्[1] पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । इतश्च **अयुगपत्प्रवृत्तेश्च** युगपदेककालं न युगपदयुगपत् प्रवर्तनं, यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ता अन्येऽधर्मे वैराग्येऽन्ये ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्मादयुगपत्प्रवृत्तेश्च बहव इति सिद्धम् । किञ्चान्यत् **त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव** त्रिगुणभावविपर्ययाच्च **पुरुषबहुत्वं सिद्धम्** । यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः सुखी अन्यो राजसो दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान्, एव त्रैगुण्यविपर्ययाद् बहुत्वं सिद्धमिति ।। १८ ।।

---

[1] व्यवस्थातः, अत एवोक्ते न्यायसूत्रे 'व्यवस्थातो नानेति' ।

अन्वयः—पुरुषबहुत्वं, सिद्धम्, (कुतः) जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्, अयुगपत्प्रवृत्तेः, त्रैगुण्यविपर्ययाच्च ।

व्याख्या—पुरुषबहुत्वम्=पुरुषानेकत्वम्, (प्रतिशरीरमित्यर्थः) सिद्धम्= अनुमितं भवति । (त्रिभिः हेतुभिरित्यर्थः) कथमित्याह—जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्=जन्ममृत्यु-इन्द्रियाणां—प्रतिनियमात्=प्रतिशरीरं भिन्नत्वात् । अयमाशयः—नूतनपरिगृहीतशरीरेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारादिभिः सह पुरुषस्य (आत्मनः) सम्बन्धो जन्म तद्विच्छेदश्च मरणम् -अर्थात् प्राप्तशरीरादिभिः सह पुरुषस्य सम्बन्ध-विच्छेदो मरणम्, तथा च सर्वेषु शरीरेषु यदि एकः पुरुषः स्यात्तदा एकस्मिन् जायमाने सर्वे जायेरन्, एकस्मिन् म्रियमाणे च सर्वे म्रियेरन्, एवं एकस्मिन् अन्धे सर्वेऽप्यन्धाः स्युः एकस्मिन् बधिरे च सर्वेऽपि बधिराः स्युः, न चैवं भवतीत्यतः प्रतिशरीरं भिन्न एव पुरुषः स्वीकार्यस्तस्माज्जननमरणकरणानां प्रतिनियमात् इति हेतुना पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । अर्थात् 'पुरुषाः—अनेकाः (प्रतिशरीरं भिन्नाः) जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' इत्यनुमानं पुरुष-बहुत्वे मानम् ।

अयुगपत्प्रवृत्तेश्च=विभिन्नकालीनप्रवृत्तिमत्त्वात् । त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैवः=गुणत्रयाणां परिणामभेदाच्च । अर्थात् केचन प्राणिनः सत्त्वगुणप्रधाना दृश्यन्ते यथा ऋषिप्रभृतयः, अपरे केचन रजोगुणप्रधानाः सन्ति यथा मनुष्याः, अन्ये च प्राणिनस्तमोगुणप्रधाना अपि वर्त्तन्ते यथा पक्षि-सर्प-पश्वादिप्रभृतयः । सोऽयं त्रैगुण्यविपर्यय एकात्मवादपक्षे नोपपद्यते, यतः यद्येकः पुरुषः (आत्मा) स्यात् तर्हि कश्चित् प्राणी सत्त्वगुणप्रधानश्चेत् तर्हि सर्वेऽपि प्राणिनः सात्त्विका एव भविष्यन्ति, रजो-गुणप्रधानश्चेत् कश्चिदेकः प्राणी तदा सर्वे एव राजसा भवन्तु, तमोगुणप्रधाने च तामसा भवेयुः, न च तथा भवति, तस्मात् पुरुषबहुत्वं स्वीकार्यम् ॥ १८ ॥

हिन्दी—(१) जनन (जन्म) मरण (मृत्यु) और करण (इन्द्रियाँ) ये प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से देखने में आती हैं, अतः इन सबकी व्यवस्था के कारण पुरुष (आत्मा) अनेक (बहुत) है । कारण कि शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि-मन-अहङ्कार आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होना जन्म कहलाता है और उस सम्बन्ध का विच्छेद हो जाना ही मृत्यु है, अब ऐसी परिस्थिति में यदि आत्मा को एक माना जाता है तो उस एक आत्मा का यदि एक शरीर के तथा उस शरीर से सम्बन्धित मन-बुद्धि-अहङ्कार आदि के साथ सम्बन्ध हो

गया तो सब शरीरों के तथा उससे सम्बन्धित मन-बुद्धि-अहङ्कार आदि के साथ सम्बन्ध हो गया, इससे यह आपत्ति लग जाती है कि एक प्राणी के उत्पन्न होने से सभी प्राणी उत्पन्न होने लग जायँ। और एक शरीर से तथा उससे सम्बन्धित मन-बुद्धि-अहंकार आदि से यदि आत्मा के सम्बन्ध का विच्छेद हो गया तो समझो कि सभी से हो गया, इससे एक प्राणी के मरने से सभी प्राणियों के मरण की आपत्ति लग जाती है।

(२) अयुगपत्प्रवृत्तेः=भिन्न-भिन्न कालों में अलग-अलग प्राणियों की प्रवृत्तियों के देखने से भी पुरुष (आत्मा) का बहुत्व सिद्ध होता है, अर्थात् किसी समय कोई धर्म में प्रवृत्त है तो कोई अधर्म में इत्यादि, अतः यदि आत्मा सब शरीरों में एक ही हो तो एक किसी भी प्राणी की धर्म में प्रवृत्ति होने पर सभी धर्म में प्रवृत्ति होने लग जायँ और अधर्म में प्रवृत्ति हो जाने पर सभी अधार्मिक बन जायें कारण कि सबका प्रेरक आत्मा एक ही है।

(३) त्रैगुण्यविपर्ययात्=त्रैगुण्य (सत्त्व-रज-तम) के विपर्यय अर्थात् परिणामभेद से भी पुरुष का बहुत्व सिद्ध हो जाता है जैसे कोई तो प्राणी एक मात्र सुखी ही है जैसे देवता लोग, और कोई एकमात्र दुःखी ही हैं जैसे पशु आदि प्राणी, कोई एकदम मोहजाल में ही फंसे हुए हैं जैसे सांसारिक मनुष्य। अतः पुरुष को यदि एक माना जायगा तो एक यदि सुखशाली हैं तो सभी सुखशाली हो जावें और एक यदि दुःखी है तो सभी दुःखी हो जावें, तथा एक के मोहग्रस्त होने से सभी मोहग्रस्त हो जायँ। कारण कि सबसे सम्बन्धित आत्मा एक ही है॥ १८ ॥

विवेक ज्ञान के उपयोगी आत्मा के धर्मों को बतलाते हैं—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

गौ०—अकर्ता पुरुष इत्येतदुच्यते—[1]तस्माच्च विपर्यासात्, तस्माच्च यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्–निर्गुणः विवेकी भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति

---

[1] पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मानाहेति मिश्रः।

योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति[1], गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव । किञ्चान्यत् कैवल्यं केवलभावः, कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थः, त्रिगुणेभ्यः केवलोऽन्यः[2] । माध्यस्थ्यं मध्यस्थभावः, परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः । यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते । तस्मात् द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, यस्मान्मध्यस्थस्तस्माद् द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुषस्तेषां कर्मणामिति, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुषः, एवं पुरुषस्यास्तित्वं च सिद्धम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—च, यस्मात्, विपर्यासात्, अस्य, पुरुषस्य, साक्षित्वम्, कैवल्यम्, माध्यस्थ्यम्, द्रष्टृत्वम्, अकर्तृभावश्च, सिद्धम्, (भवति) ।

व्याख्या—च, तस्मात्="त्रिगुणमविवेकि" इत्यादिकारिकोक्तधर्मेभ्यः । विपर्यासात्=विपरीतात्, अर्थात्, अत्रिगुणत्वात् । विवेकित्वात्, अविषयत्वात्, असाधारणत्वात्, चेननत्वात्, अप्रसवधर्मित्वाच्च । अस्य = सांख्यमतसिद्धस्य पुरुषस्य =आत्मनः । साक्षित्वम् =ज्ञानस्वरूपत्वम् । कैवल्यम् =आत्यन्तिक-ऐकान्तिकदुःखत्रयराहित्यम् । माध्यस्थ्यम्=स्वपक्ष-परपक्षशून्यत्वम् । द्रष्टृत्वम् = कैवलं वस्तूनां दर्शनकर्तृत्वम् । अकर्तृभावश्च=कर्तृत्वशून्यत्वम् च । सिद्धम्= अनुमितम् । (भवति) ॥ १९ ॥

हिन्दी—"त्रिगुणमविवेकि" इत्यादि ११ वीं कारिका में प्रकृति (अव्यक्त) और व्यक्त के जो त्रिगुणत्व-विवेकित्व-अविषयत्व आदि धर्मों से इस पुरुष का साक्षित्व-कैवल्थ-माध्यस्थ्य द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। उनमें से चेतनत्व और अविषयत्व इन दो धर्मों से तो पुरुष का साक्षित्व और द्रष्टृत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि चेतन और अविषयभूत पदार्थ ही साक्षी और द्रष्टा हुआ करते हैं, तथा अत्रिगुणत्व से उसका कैवल्य और माध्यस्थ्य सिद्ध होता है, एवं अप्रसवधर्मित्व धर्म के द्वारा पुरुष का अकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अप्रसवधर्मी ही अकर्ता हुआ करता है ॥ १९ ॥

---

[1] यः पुरुषः 'पुरुषबहुत्वं सिद्ध'मित्यत्रोद्दिष्ट इत्यर्थः ।

[2] अत्रैगुण्याच्चास्य कैवल्यम्, आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्, तच्च तस्य स्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात्सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धमिति मिश्राः ।

प्रश्न—"चेतनोऽहङ्करोमि" इस प्रमाणभूत प्रतीति के अधार पर चेतन पुरुष ही जबकि कर्ता सिद्ध हो रहा है तब "अकर्तृभावश्च" इत्यादि १९ वीं कारिका से पुरुष का अकर्तृत्वधर्म कैसे बतलाया ?

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

गौ०—[1]यस्मादकर्ता पुरुषस्तत्कथमध्यवसायं करोति धर्मं करिष्याम्यधर्मं करिष्यामीत्यत; कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुष एवमुभयथा दोषः स्यादिति, अत उच्यते—इह पुरुषश्चेतनावान् तेन चेतनावभाससंयुक्तं, महदादिलिङ्गं चेतनावदिव भवति, यथा लोके घट शीतसंयुक्तः शोतः, उष्णसंयुक्त उष्णः, एवं महदादिलिङ्गं तस्य संयोगात् पुरुषसंयोगाच्चेतनावदिव भवति, तस्माद् गुणा, अध्यवसायं कुर्वन्ति न पुरुषः । यद्यपि लोके पुरुषः कर्त्ता, गन्तेत्यादि प्रयुज्यते तथाप्यकर्त्ता पुरुषः । कथम् ? **गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ।** गुणानां कर्तृत्वे सति उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति, न कर्ता । अत्र दृष्टान्तो भवति—यथाऽचौरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्त्ता भवति कर्तृसंयोगात् । एवं व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विभागो व्याख्यातः,[2] 'यद्विभागान्मोक्षप्राप्तिरिति ॥ २० ॥

अन्वयः—तस्मात्, तत्संयोगात्, अचेतनम्, लिङ्गम्, चेतनावदिव, भवति, तथा गुणकर्तृत्वेऽपि, उदासीनः, कर्ता इव, भवति ॥ २० ॥

व्याख्या—तस्मात् = यतः पुरुषश्चेतनः अतः । तत्संयोगात् = पुरुषसंयोगात् । अचेतनन्=चेतनारहितम् । लिङ्गम् - बुद्ध्यादिः । चेतनावदिव = चेतनसदृशम् । भवति । तथा = तद्वदेव । गुणकर्त्तृत्वेऽपि = गुणानाम् = सत्त्वरजस्तमसाम्, कर्त्तृत्वेऽपि । उदासीनः । पुरुषः । कर्त्ता इव=कर्त्तृतुल्यः । भवति ॥२०॥

हिन्दी—सांख्यशास्त्र में बुद्धितत्त्व को कर्त्ता और भोक्ता माना गया है क्योंकि वह त्रिगुण तथा प्रसवधर्मी है । उधर पुरुष को अत्रिगुण तथा अप्रसव-

---

[1] आक्षिपति—यस्मादिति । पुरुषस्याकर्तृत्वाङ्गीकारेऽध्यवसायानुपपत्तिस्तदुपपत्तावकर्तृत्वस्य सांख्यमतसिद्धत्वानुपपत्तिरित्युभयतः पाशारज्जुरित्याक्षेपाशयः ।

[2] व्यक्ताव्यक्तज्ञविवेकात् ।

धर्मी होने के कारण अकर्ता और अभोक्ता माना है । अब प्रश्न यह होता है कि तब फिर 'चेतनोऽहं करोमि' यह सर्वानुभवसिद्ध प्रतीति कैसे होगी, क्योंकि जो चेतन है पुरुष—वह कर्त्ता नहीं और जो कर्त्तृत्व-सम्पन्न है बुद्धितत्त्व—वह चेतन नहीं ।

इस प्रश्न का उत्तर कारिका में दिया कि—पुरुष चेतन है इसीलिये उस पुरुष के संयोग से अचेतन लिङ्ग (बुद्धितत्त्व) चेतन के समान हो जाता है, जैसे राजा के संपर्की पुरोहित को 'पुरोहितोऽयं राजा संवृत्तः ऐसा कहा जाता है, अर्थात् वह पुरोहित राजा के सदृश हो गया, एवं रक्तपुष्प के सन्निधान से श्वेत होती हुई भी स्फटिक मणि जैसे रक्त की तरह मालूम पड़ने लगती है, इसी प्रकार गुण अर्थात् सत्त्वरजतम इन तीनों गुणों की समानावस्था प्रकृति तत्त्व (बुद्धि) ही कर्त्ता है परन्तु वास्तविक में उदासीन (असङ्ग= पुष्करपलाशवत् निर्लेप) होता हुआ भी पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध से अर्थात् प्रकृति के चङ्गुल में फँसकर अपने को ही कर्त्ता समझ बैठता है, जिससे अकर्त्ता होता हुआ भी पुरुष अपने को कर्त्ता मानने लगता है इसी से 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति बन जाती है ॥ २० ॥

प्रश्न—प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध क्यों होता है, तथा कैसे होता है ?

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

गौ०—'अथैतयोः प्रधानपुरुषयोः किंहेतुः सङ्घातः' उच्यते--पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थं—प्रकृति महदादिकार्यं भूतपर्यन्तं पुरुषः पश्यति एतदर्थम्, प्रधानस्यापि पुरुषेण संयोगः कैवल्यार्थम्, स च संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः, यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्ध एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य[1] स्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ पुनस्तयोः स्ववचसोर्विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति, अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः एवं शरीरारूढ-पंगुदर्शितेन मार्गेणान्धो याति पंगुश्चान्धस्कन्धारूढः, एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति

---

[1] धनिकयूथस्य ।

पङ्गुवन्न क्रिया प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवन्न दर्शनशक्तिः । यथा वाऽनयोः पङ्ग्वन्धयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोः, एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति । किञ्चान्यत् तत्कृतः सर्गः, तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः, सर्गः सृष्टिः, यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः ॥ २१ ॥

अन्वयः —पुरुषस्य, दर्शनार्थम्, तथा, प्रधानस्य कैवल्यार्थम्, उभयोः, संयोगः, अपि पङ्ग्वन्धवत् (भवति) तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

व्याख्या—पुरुषस्य-प्रधानस्येत्युभयत्र कर्मणि षष्ठी । कर्तृपदं चोभयत्र अध्याहार्यम् । एवं च—पुरुषस्य=पुरुषः । दर्शनार्थम्=स्वोपभोगार्थम् । (प्रधानेन अपेक्ष्यते इति भावः) तथा=तथैव प्रधानस्य=प्रधानः—प्रकृतिः । कैवल्यार्थम् = स्वस्य मोक्षार्थम् । (पुरुषेण अपेक्ष्यते, अर्थात् पुरुषः स्वस्य मोक्षार्थं प्रधानमपेक्षते) (एवं परस्परमपेक्षया) उभयोः=प्रधानपुरुषयोः । संयोगः अपि = सम्बन्धोऽपि (भवति) पङ्ग्वन्धवत्=पंगुः गमनाशक्तः, अन्धश्च दर्शनाशक्तः, तथा च गमनाशक्तो हि पंगुः स्वाभीष्टदेशप्राप्त्यर्थमन्धमपेक्षते—एवमन्धोऽपि दर्शनाशक्तत्वात् मार्गप्रदर्शकं पंगुमपेक्षते—इत्येवं परस्परमपेक्षया पङ्वन्धयोः संयोगो भवति । अर्थात्=पंगुरन्धस्कन्धारोहणरूपं संयोगं सह संपादयति । तत्कृतः=प्रधानपुरुषसंयोगकृतः । सर्गः = सृष्टिः । (अस्तीति भावः) अर्थात् यथा स्त्रीपुरुषयोः संयोगात् सन्तानोत्पत्तिर्भवति तथैव प्रधानपुरुषयोः संयोगात् सृष्टिर्भवति ॥ २१ ॥

हिन्दी—जिस प्रकार किसी कामिनी स्त्री को अपने उपभोग के लिए पति अपेक्षित होता है इसी प्रकार प्रकृति भी अपने उपभोग के लिए पुरुष की अपेक्षा रखती है जिस अपेक्षावश उसे पुरुष से संयोग करना ही पड़ता है । वैसे ही पुरुष भी अपनी मुक्ति (सांसारिकबन्धन से छुटकारा प्राप्त करने) के लिए प्रकृति से सर्वथा सापेक्ष हैं जिस अपेक्षावश उसे भी प्रकृति से संयोग करना ही पड़ता है। जिस प्रकार गमनाशक्त एक लंगड़ा पुरुष अपने स्वार्थसाधन के लिए अन्धपुरुष से सापेक्ष हो उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर बैठता है, और इधर अन्धा भी दर्शनाशक्त होने की वजह से अपने मार्गप्रदर्शनरूप कार्य को सम्पन्न करने की

दृष्टि से लंगड़े से सम्बन्ध करना चाहता है, कि लंगड़े को अन्धा अपने कन्धे पर बैठा लेता है और दोनों का मतलब पूर्ण हो जाता है। उसी प्रकार परस्पर की अपेक्षा से सम्पन्न हुआ प्रकृति और पुरुष का संयोग सृष्टि को उत्पन्न करता है जिससे दोनों का भोगापवर्ग रूप मतलब सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

सृष्टिक्रम को बतलाते हैं—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥

गौ०—इदानीं सर्वविभागदर्शनार्थमाह—प्रकृतिः प्रधानं ब्रह्म अव्यक्तं बहुधानकं मायेति पर्यायः। अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महानुत्पद्यते—महान् बुद्धिरासुरी मतिः ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते। तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते, अहङ्कारो भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः। तस्माद् गणश्च षोडशकः, तस्मादहङ्कारात् षोडशकः षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते, स यथा—पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्रसूक्ष्मपर्यायवाच्यानि, तत एकादशेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकमेकादशं मनश्च, एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते। किञ्च पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि, तस्मात् षोडशकाद् गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः संकाशात् पञ्च वँ महाभूतान्युत्पद्यन्ते। यदुक्तं—[1]शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते ॥ २२ ॥

अन्वयः—प्रकृतेः, महान्, अहङ्कारः, तस्मात्, षोडशकः, गणः, (जायते) तस्मादपि, षोडशकात्, पञ्चभ्यः, पञ्च, भूतानि, (उत्पद्यन्ते) ॥ २२ ॥

व्याख्या—प्रकृतेः=प्रकृतितत्वतः महान्=महत्तत्वम् (बुद्धितत्वम्) (उत्पद्यन्ते)। ततः=महत्तत्त्वतः। अहङ्कारः=अहङ्कारनामकं तत्त्वम्, (समुत्पद्यते) तस्मात्=अहङ्कारात्। षोडशकः=१६ संख्याकः। गणः=पदार्थतत्वसमुदायः,

---

[1] सांख्यसमाससूत्रेषु।

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्-कर्मेन्द्रियपञ्चकम्-तन्मात्रपञ्चकम्-मनः एतानीत्यर्थः । तस्मादपि षोडशकात्=पूर्वोक्तएकादशेन्द्रियसहितपञ्चतन्मात्रगणात् । पञ्चभ्यः=षोडशगणान्तर्गतपञ्चतन्मात्रेभ्यः । पञ्चभूतानि=पृथिवी-जल-आदिपञ्चमहाभूतानि । (उत्पद्यन्ते) ॥ २२ ॥

हिन्दी—प्रधानकारणीभूत प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है, और उस महत्तत्त्व से अहङ्कार अहङ्कारसे चक्षु-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन और पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। षोडश १६ गणों के अन्तर्गत पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी-जल आदि पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

प्रश्न—महत्तत्त्व (बुद्धितत्व ! किसे कहते हैं अर्थात् उसका क्या लक्षण है, तथा उसके कितने धर्म हैं ?

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

गौ०—यदुक्तं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्ष' इति, तत्र महदादिभूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तं व्याख्यातम्, अव्यक्तमपि भेदानां परिमाणात्—इत्यादिना व्याख्यातं, पुरुषोऽपि सङ्घातपरार्थत्वात् इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः । एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि; यस्तैस्त्रैलोक्यं व्याप्तं जानाति तस्य भावोऽस्तित्वं तत्त्वं[1] यथोक्तम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

तानि यथा--प्रकृतिः पुरुषो बुद्धिरहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि इत्येतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि । तत्रोक्तप्रकृतेर्महानुत्पद्यते, तस्य महत किं लक्षणमित्येतदाह--अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम् । अध्यवसानमध्यवसायः, यथा वीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽङ्कुरस्तद्वदध्यवसायोऽयं घटोऽयं पट इत्येवम् अध्यवस्यति या सा बुद्धिरिति लक्ष्यते[2] । सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका सात्त्विकतामसरूपभेदात् । तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति—

---

[1] मुक्तिरित्यर्थः ।

[2] अध्यवसायो बुद्धिरिति क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षयेदम् । सर्वो हि व्यव-

धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्चेति । तत्र धर्मो नाम दयादानयमनियमलक्षणः, [१]तत्र यमा नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः–'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः,' 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' ।[२] ज्ञानं प्रकाशोऽवगमो भानमिति पर्यायाः । तच्च द्विविधं वाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र वाह्यं नाम वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्यौतिषाख्यषडङ्गसहिताः, पुराणानि न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम्–इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाऽयं पुरुषः सिद्धो निर्गुणो व्यापी चेतन इति ।[3] तत्र वाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः । आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः । वैराग्यमपि द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च । वाह्यं दृष्टविषयवैतृष्ण्यमर्जनरक्षणक्षय सङ्गहिंसादोषदर्शनाद् विरक्तस्य ,मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्[४] । ऐश्वर्यमीश्वरभावः, तच्चाष्टगुणम्–अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं चेति ।अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति[५] । महिमा महान् भूत्वा विचरतीति । लघिमा मृणालीतूलावयवा-

---

हर्ताऽऽलोच्य मत्वात्वहमधिकृत् इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन् मयेति यदध्यवस्यति, तत्र योऽयं कर्त्तव्याकारो निश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया इव बुद्धेर्धर्मः सोऽध्यवसायो बुद्धेर्लक्षणमिति मिश्राः ।

[१] अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्धर्मः, तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजन्योऽभ्युदयहेतुरष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुरिति तत्त्वकौमुदी ।

[२] एवमप्रसिद्धौ यमनियमावभिधाय धर्मानन्तरं क्रमप्राप्तं ज्ञानं निरूपयति ज्ञानमिति ।

[३] द्विविधसात्त्विकज्ञानफलमाह—तत्रेति ।

[४] दृष्टादृष्टभेदेन यतमान–व्यतिरेक-एकेन्द्रिय-वशीकारसंज्ञाभिश्चतुर्विधं प्रदर्शितं वाचस्पतिमिश्रैः । तत्र विषयेषु इन्द्रियाणां परिपाचनाय प्रवृत्तिनिरासार्थो यत्नो यतमानसंज्ञा । परिपाचनानुष्ठानकाले पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकावधारणं परिपाकसंज्ञा इन्द्रियप्रवृत्त्यसमर्थतयौत्सुक्यमात्रस्याप्युपरिस्थितदृष्टादृष्टविषयेषु निवृत्तिर्वशीकारसंज्ञेति अत एवोक्तं पातञ्जलदर्शने 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (१।१६) इति ।

[५] यतः शिलायामपि योगिनः प्रवेशो भवतीति ।

दपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति[१]। प्राप्तिरभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति[२] प्राकाम्यं प्रकामता यदेवेच्छति तदेव विदधाति[३]। ईशित्वं प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे। वशित्वं सर्वं वशीभवति। यत्र कामावसायित्वं, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति[४]। चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि। यदा सत्त्वेन रजस्तमसो अभिभूते तदा पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति। किञ्चान्यत् तामसमस्माद्विपर्यस्तम्, अस्माद्धर्मादेर्विपरीतं तामसं बुद्धिरूपम्, तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः, एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति। एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्तादुत्पद्यते ॥ २३ ॥

अन्वयः—अध्यवसायः बुद्धिः, धर्मः, ज्ञानम्, विरागः, ऐश्वर्यम्, सात्विकम्, एतद्रूपम्, (च) अस्मात् विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

व्याख्या–अध्यवसायः=निश्चयः। बुद्धिः=बुद्धितत्त्वम् अर्थात् अध्यवसायत्व बुद्धेर्लक्षणम्। (बुद्धेरष्टौ धर्मा भवन्ति तत्र चत्वारः सात्त्विकाः चत्वारश्च तामसाः) धर्माः। ज्ञानम्। विरागः=वैराग्यम्। ऐश्वर्यम्=अणिमा–महिमा गरिमा–लघिमा–प्राप्तिः–प्रकाम्यम्–ईशित्वम् वशित्वरूपमष्टविधम्। सात्त्विकम्= सत्त्वांशप्रधानम्। एतद्रूपम्=इमे धर्माः तामसम्=तमोंऽशप्रधानम्। (च, रूपम्) अस्मात्=धर्मादेः विपर्यस्तम्=विपरीतम्। अर्थात्, अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य अनैश्वर्यरूपम्। (अस्ति) ॥ २३ ॥

हिन्दी—किसी वस्तु के निश्चय करने को बुद्धि कहते हैं, और उस बुद्धि के धर्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक धर्म हैं। अभ्युदय–और निःश्रेयस के साधक को धर्म कहते है, वस्तुओं के प्रकाश करने वाले को ज्ञान कहते हैं, पुत्र–कलत्र आदि पदार्थों में राग न होना ही वैराग्य है। ऐश्वर्यस्पष्ट ही हैं और बुद्धि के चार जो तामसधर्म हैं वे इनके सर्वथा विपरीत हैं–जैसे–अधर्म–अज्ञान-अवैराग्य–अनैश्वर्य ॥ २३ ॥

---

[१] यतः सूर्यमरीचीनवलम्ब्य सूर्यलोकं याति योगीति मिश्राः।

[२] यतश्चन्द्रमसमपि स्पृशति करेण योगीति।

[३] यतो जल इव भूमावप्युन्मज्जति निमज्जति निमज्जति च योगी।

[४] सत्यसंकल्पतेति मिश्राः।

प्रश्न—अहङ्कार का क्या लक्षण है तथा उससे किस दो प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति होती है ?

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकस्यैव ॥ २४ ॥

गौ०—एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम्, अहङ्कारलक्षणमुच्यते[1] एकादशकश्च गणः-एकादशेन्द्रियाणि तथा तन्मात्रो गणः पञ्चकः पञ्चलक्षणोपेतः शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अभिमानः अहङ्कारः च, तस्माद्, द्विविधः, सर्गः, प्रवर्त्तते, एकादशकः, गणः च, तन्मात्रः पञ्चकः एव ॥ २४ ॥

व्याख्या—अभिमानः=अभिमानत्वधर्मवान् । अहङ्कारः=स्पष्टमेतत् । तस्मात्=अहङ्कारात् । द्विविधः=द्विप्रकारकः । सर्गः=सृष्टिः । प्रवर्त्तते=उत्पद्यते । एकादशकः=एकादशसंख्याकः । गणः=चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियम्, वाक्पाणि आदिपंचकर्मेन्द्रियम्, मनः इत्येतन्नामकः समुदायः । च=और । तन्मात्रपञ्चकः=सूक्ष्म-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकः । एव ॥ २४ ॥

हिन्दी—किसी वस्तु के अभिमान करने को अहङ्कार कहते हैं और उस अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि होती है, एक ११ एकादश इन्द्रिय (५ ज्ञानेन्द्रिया—५ कर्मेन्द्रियाँ—और १ मन) रूपा सृष्टि, और दूसरी तन्मात्रस्वरूपा सृष्टि ॥ २४ ॥

प्रश्न—अकेले अहङ्कार से यह विलक्षण गणद्वयात्मिका सृष्टि कैसे होती है, क्योंकि एक अन्धकारमयी सृष्टि है तो दूसरी प्रकाशक सृष्टि है ?

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

---

[1] आलोचनमननयोरन्ते तयोर्विषये योऽयम् 'अहमत्राधिकृत' इत्यादिरूपेणाभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहंकारलक्षणमित्यर्थः । उत्तरार्धं व्याचष्टे-एकादशकश्चेति । (ऐन्द्रिय एकादशकस्तमात्रपञ्चकश्चेति माठरसम्मतः, एकादशश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चेति च भिन्नसम्मतः पाठोऽत्र कारिकायां द्रष्टव्यः ।

गौ०—किंलक्षणात् सर्ग इत्येतदाह—[१]सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कारः सात्त्विकः तस्य च पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता वैकृत इति, तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते, यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते **सात्त्विक एकादशक** इति । किञ्चान्यत्—**भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः**, [२]तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता संज्ञा भूतादिः, तस्माद् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते, [३] भूतानामादिभूतस्तमोबहुलस्तेनोक्तः स तामस इति तस्माद् भूतादेः पञ्चतन्मात्रको गणः । [४]किञ्च **तैजसादुभयम्** [५]यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोऽहङ्कारस्तैजस इति संज्ञां लभते, तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते । [६]**उभयमिति**—एकादशो गणस्तन्मात्रः पञ्चकः । योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो वैकृतिको भूत्वा एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति स तैजसमहङ्कारं सहायं गृह्णाति, सात्त्विको निष्क्रियः स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः तथा तामसोऽहंकारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहंकारेण क्रियावता युक्तस्तन्मात्राण्युत्पादयति तेनोक्तं **तैजसादुभयमिति** ।[७] एवं तैजसेनाहंकारेणेन्द्रियाण्येकादश पञ्चतन्मात्राणि कृतानि भवन्ति ।। २५ ।।

अन्वयः—वैकृतात्, अहङ्कारात्, सात्त्विकः एकादशकः, प्रवर्तते, भूतादेः, तन्मात्रः, (प्रवर्तते), (यतः) स, तामसः तैजसात्, उभयम् ।। २५ ।।

---

[१] वैकृतशब्दार्थमाह—सत्त्वेनेति ।

[२] भूतादिशब्दस्यार्थं विवृणोति—तमसेति ।

[३] तामसाहंकारकार्यस्य तन्मात्रस्य तामसत्वे युक्तिमाह—भूतानामिति । उपसंहरति तस्मादिति ।

[४] यद्यप्येकोऽहंकारस्तथापि गुणभेदोद्भवाभिभवाभ्यां भिन्नकार्यकारीति मिश्राः ।

[५] अहंकारस्य तैजसत्वे युक्तिमाह—यदेति ।

[६] सात्त्विकतामसोभयविधकार्यजनने तैजसाहंकारस्योपोद्बलकत्वमाहोभयमितीति ।

[७] फलितमाह—एवमिति ।

व्याख्या—वैकृतात् =सात्त्विकात् । अहङ्कारात् । सात्त्विकः =सत्त्वगुण विशिष्टः । एकादशकः = एकादशेन्द्रियसमुदायः । प्रवर्तते = उत्पद्यते ।

भूतादेः=तामसात्, (अहङ्कारात्), तन्मात्रः=तन्मात्रसंज्ञक पञ्चको गणः । (प्रवर्तते) यतः-सः तन्मात्रात्मको गणः । तामस=तमोगुणप्रधानाहङ्कारजन्यः ।

तैजसात्=राजसात्-अर्थात् रजोगुणप्रधानात् अहङ्कारात् । उभयम्=उभयात्मिका सृष्टिर्भवति अर्थात् वक्ष्यमाणपञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय—मनःस्वरूपा सृष्टिर्भवति ॥ २५ ॥

हिन्दी—सत्त्वगुणप्रधान अहंकार से सात्त्विक ११ एकादश इन्द्रिय समुदायात्मक सृष्टि होती है। और तमोगुण से युक्त अहंकार से शब्दतन्मात्रादिस्वरूपा सृष्टि होती है। तैजस अर्थात् रजोगुण से विशिष्ट अहंकार से दोनों प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं। अर्थात् एकादशइन्द्रिय—गणात्मिका तथा तन्मात्रगणस्वरूपा ये दोनों सृष्टियाँ होती हैं ॥ २५ ॥

अब हम एकादश इन्द्रियगणात्मक सृष्टि के अन्तर्गत १० बाह्य इन्द्रियों को बतलाते हैं—

(१)बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

गौ०—सात्त्विक एकादश इत्युक्तः, यो वैकृतात् सात्त्विक एकादशकः [२]सात्त्विकादहंकारादुत्पद्यते तस्य का संज्ञेत्याह चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि[३] बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते, स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते-स्पर्शनकानीति[४] शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान्

---

१. इन्द्रियाणां प्रकाशकत्वेन प्रकाशधर्मकसत्त्वगुणकार्यत्वानुमानात्सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वं पूर्वकारिकायामुक्तं तत्र कानि पुनस्तानीन्द्रियाणीत्याह-बुद्धीन्द्रियाणीतिं । बुद्धिसाधनानि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मसाधनानि कर्मेन्द्रियाणीत्यर्थः ।

२. एकादशक इन्द्रियगणः ।

३. अत्र सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिद्रियसामान्यलक्षणं साङ्ख्यमतेन द्रष्टव्यम् ।

४. वाचस्पत्यमतेनात्र मूले स्पर्शनेन्द्रियस्य त्वक्स्थानत्वात् 'रसनत्वगाख्यानि' इति पाठान्तरं द्रष्टव्यम् ।

बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः कर्म कुर्वन्तीति कर्मेन्द्रियाणि, तत्र वाग्वदति, हस्तौ नाना व्यापारं [1]कुरुतः, पादौ गमनागमनं, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या ॥

अन्वयः – चक्षुः,-श्रोत्र-घ्राण-रसन-त्वगाख्यानि, बुद्धीन्द्रियाणि, आहुः, वाक्पाणिपादपायु-उपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, आहुः ॥ २६ ॥

व्याख्या—चक्षुः-श्रोत्र-घ्राण-रसन-त्वगाख्यानि=एतन्नामकानि बुद्धीन्द्रियाणि =ज्ञानेन्द्रियाणि । आहुः =कथितानि । वाकपाणि पादपायूपस्थानि = एतन्नामकानि कर्मेन्द्रियाणि । आहुः ॥ २६ ॥

हिन्दी—चक्षु श्रोत्र (कान) घ्राण (नाक) रसन (जीभ) और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । और वाक (वाणी) पाणि (हांथ) पाद (पैर) पायु (गुदा) उपस्थ (लिङ्ग) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है ॥ २६ ॥

अब एकादश इन्द्रियों में से इग्यारहवीं इन्द्रिय जो मन है उसका निरूपण करते हैं—

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

गौ०—एवं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि, मन एकादशकं किमात्मकं किंस्वरूपंचेति तदुच्यते—अत्रेन्द्रियवर्गे, मन उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् । कस्माद ? बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्ति कल्पयति[2] कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः संकल्पयतीति सङ्कल्पकम्[3] । किञ्चान्यत् 'इन्द्रियं च साधर्म्यात्' समानधर्मभावात्, सात्त्विकाहङ्कारात् बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं

---

[1] दानप्रतिग्रहाद्यात्मकम् ।

[2] जनयति । आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति क्रमेण चाक्षुषादिज्ञानजनने मनोधिष्ठितानामेव बुद्धीन्द्रियाणां च स्वत्वविषये प्रवृत्तेर्मन उभयात्मकमिति भावः ।

[3] इदमेवं नैवमिति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति संकल्पकत्वं मनस इतरभेदकं लक्षणमित्यर्थः ।

प्रति[1], तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽपीन्द्रियम् । एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि । तत्र मनसः का वृत्तिरिति ? संकल्पो वृत्तिः । बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो वृत्तयः कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः ।[2] 'अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि भिन्नार्थग्राहकाणि किमीश्वरेण उत स्वभावेन कृतानि, यतः प्रधानबुद्ध्यहंकारा अचेतनाः पुरुषोऽप्यकर्ते' त्यत्राह–इह सांख्यानां स्वभावो नाम कश्चित्कारणमस्ति, अत्रोच्यते **गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च**, इमान्येकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां संकल्पश्च मनसः एवमेते भिन्नानामेवेन्द्रियाणामर्थाः, **गुणपरिणामविशेषात्**–गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं बाह्यार्थभेदाश्च । अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण नाहंकारेण न बुद्ध्या न प्रधानेन न पुरुषेण स्वभावात् कृतगुणपरिणामेनेति ।[3] 'गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्तते' ? प्रवर्तते एव । कथम् ? वक्ष्यतीहैव—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

[4]एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, [5]विशेषोऽपि तत्कृत एव येनोच्चैः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितम्, तथा घ्राणं तथा श्रोत्रं तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्रहणाय । एवं कर्मेन्द्रियाण्यपि यथायथं स्वार्थसमर्थानि स्वदेशाव-

---

१. नियामिकानीति शेषः ।

२ शङ्कते—अथेति । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयग्राहकत्वमीश्वरकृतं स्वाभाविकं वा, येन स्वभावेनैव प्रधानादीनामचेतनत्वं चेतनत्वं च पुरुषस्येति शङ्कार्थः । समाधत्ते—इत्यत्राहेति । स्वाभाविकमिन्द्रियाणां भिन्नार्थग्राहकत्वमिति समाधानाशयः । एतदेवोत्तरार्धेन प्रतिणदयन्नाह–अत्रोच्यत इति । समाधानार्थमुतरार्धव्याख्यानेन प्रतिपादयन्नाह-इमानीति । कृतगुणपरिणामेनेत्यन्तग्रन्थेन न न पुरुषादिकृतमिति शेषः ।

३. आक्षेप्ता पृच्छति-गुणानामिति । सत्त्वादीनां गुणानां जडत्वात्तत्साम्यावस्थात्मकं प्रधानं न प्रवर्तते किमिति प्रश्नार्थः । समाधत्ते प्रवर्त्तत एवेति ।

४. गुणानां प्रवृत्तिप्रकारं दृष्टान्तेन विवृण्वन्नाह–एवमिति ।

५. एकादशेन्द्रियेषु तत्तदिन्द्रियप्रवृत्तिप्रकारोऽपि । तत्कृत एव=अचेतनगुणकृतएव ।

स्थितानि स्वभावतो गुणपरिणामविशेषादेव न तदर्था अपि[1], यत उक्तं शास्त्रान्तरे—'गुणागुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्था ज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः, प्रधानं यस्य कारणमिति ॥ २७ ॥

अन्वयः—अत्र, संकल्पकम्, मनः (तच्च) उभयात्मकम्, च, इन्द्रियम्, (मनसः) साधर्म्यात्, (तेषाञ्च) गुणपरिणामविशेषात्, नानात्वम्, बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

व्याख्या—अत्र=एकादशेन्द्रियमध्ये ; मनः=मनोरूपम् इन्द्रियम् । संकल्पकम्=इदमेवम् नैवमिति संकल्पजनकम् । (संकल्पविकल्पजनकत्वं मनसो लक्षणम्) (तच्च = मनः) उभयात्मकम् = ज्ञानेन्द्रियात्मकं कर्मेन्द्रियात्मकञ्च । (अर्थात् मनः ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च स्व-स्व-विषयेषु प्रवर्तकत्वात् उभयात्मकं भवति, यतः सुषुप्तौ मनसि पुरीतति नाड्यां प्रविष्टे कापि ज्ञानस्वरूपा वृत्तिर्न जायतेऽतोऽनुमीयते यत ज्ञानेन्द्रियाणां-कर्मेन्द्रियाणाञ्च प्रवृत्तिकारणं मन एवेति भावः । इन्द्रियञ्च मनः = मनसइन्द्रियत्वं च । साधर्म्यात् = समानधर्मवत्त्वात्; सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमित्यर्थः । (अर्थात् सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वं यथा दशविधबाह्येन्द्रियाणमस्ति तथा मनसोऽपीति भावः । (तेषाञ्च इन्द्रियाणाम्) गुणपरिणामविशेषात् = गुणानाम् = सत्त्वरजस्तमसाम् परिणामविशेषात् = अदृष्टरूपपरिणामभेदात् । नानात्वं = अनेकत्वम् । बाह्यभेदाश्च = बाह्यघटपटादीनां यथा अदृष्टभेदाद् भेदा जायन्ते ॥ २७ ॥

हिन्दी—इन ११ इन्द्रियों के मध्य में मन का 'वह बात ऐसी है' 'यह बात ऐसी नहीं है' इन संकल्प विकल्पों का कारण माना है, और वह मन उभयरूप है अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में प्रवृत्त करनेवाला है अतः यह मन दोनों इन्द्रियस्वरूप है । अतः प्रश्न यह होता है कि मन इन्द्रिय क्यों है ? इसका उत्तर दिया कि 'साधर्म्यात्' अर्थात् सात्त्विक अहंकारोपादानकत्व जैसे दशविध बाह्य इन्द्रियों का धर्म है वैसे ही मन का भी, अर्थात् सात्त्विक अहंकार जैसे बाह्य

---

[1] प्रवर्तन्त इति शेषः । अब माठरमते बाह्यभेदाश्चेत्यत्र ग्राह्यभेदाश्चेति कारिकापाठः । इन्द्रियार्थैकादशभेदादपि इन्द्रियाणां भेद इति तदर्थः ।

इन्द्रियों का समान रूप से उपादान कारण है वैसे ही मन का भी सात्त्विक अहङ्कार ही उपादान कारण है।

अब फिर शंका यह होती है कि इकला सात्त्विक अहङ्कार इग्यारह प्रकार की इन्द्रियों को कैसे उत्पन्न करता है ?

इसका समाधान किया कि "गुणपरिणामविशेषान्नानात्वम्" अर्थात् सत्त्व-रज–तम इन तीनों गुणों के विलाक्षण भोगों को प्रदान करनेवाले विभिन्न अदृष्ट (भाग्य) रूप परिणाम के भेद से इन्द्रियरूप कार्य का भी भेद मानना आवश्यक है। जैसे घट-पट आदि बाह्यपदार्थों का अदृष्ट भेद से भेद देखने में आता है, एवं एक ही पिता के भाग्य भेद से पुत्र-पौत्र आदि सन्तान भेद देखने में आता है ॥ २७ ॥

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विशेषव्यापारों का प्रदर्शन करते हैं—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

गौ०–अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरित्युच्यते–मात्रशब्दो विशेषार्थः, अविशेषव्यावृत्त्यर्थो[1] यथा—भिक्षामात्रं लभ्यते, नान्यो विशेष इति, तथा चक्षुः रूपमात्रे न रसादिषु[2] एवं शेषाण्यपि, तद्यथा–चक्षुषो रूप जिह्वाया रसः, घ्राणस्य गन्धः, श्रोत्रस्य शब्दः, त्वचः स्पर्शः[3]। एवमेषां बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता, कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते–**वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां** कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः। वाचो वचनं, हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं पादयोर्भुक्तस्याहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिविषयो वृत्तिरिति सम्बन्धः ॥ २८ ॥

अन्वयः–पञ्चानाम्, शब्दादिषु, आलोचनमात्रम् वृत्तिः, इष्यते, पञ्चानाम्, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च, (वृत्तयः इष्यन्ते) ॥ २८ ॥

---

[1] आलोचनमात्रमित्यत्र मात्रशब्दार्थो विशेषोऽविशेषव्यावृत्त्यर्थं इत्यत्र दृष्टान्तमाह–यथेति ।

[2] वृत्ति लभत इति शेषः ।

[3] वृत्तिविषय इति शेषः ।

व्याख्या—पञ्चानाम्=चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियपञ्चकानाम् । शब्दादिषु=शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकेषु विषयेषु । आलोचनमात्रम्=ज्ञानमात्रम् । वृत्तिः = व्यापारः । इष्यते=स्वीक्रियते । पञ्चानाम्=वाक्पाणि-आदि पञ्चकर्मेन्द्रियाणाम् । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च=वचनम्=कथनम्, आदानम्=ग्रहणम्, उत्सर्गः=परित्यागः, (यथा मलस्य) । आनन्दः=रतिः । (वृत्तयः इष्यन्ते) ॥ २८ ॥

हिन्दी—श्रोत्र चक्षु आदि पांच बाह्य इन्द्रियों का अपने शब्द—रूप—स्पर्श आदि विषयों का प्रत्यक्ष करना ही वृत्ति (व्यापार) माना है। और वाक्-पाणि आदि पांच कर्मेन्द्रियों का वचन (बोलना), आदान (लेना-देना), विहरण (भ्रमण), उत्सर्ग (टट्टी होना), और आनन्द लेना ये पांच प्रकार के व्यापार बतलाये हैं ॥ २८ ॥

प्रश्न—मन–बुद्धि–अहङ्कार इन तीन प्रकार के अन्तःकरणों का कौन साधारण व्यापार है और कौन असाधारण व्यापार है इस बात को बतलाते हैं ?

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

गौ०—अधुना बुद्ध्यहंकारमनसामुच्यते[1] स्वलक्षणस्वभावा स्वालक्षण्या[2] अध्यवसायो बुद्धिरिति लक्षणमुक्तं सैव बुद्धिवृत्तिः, तथाऽभिमानोऽहंकार इत्यभिमानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च, संकल्पकं मन इति लक्षणमुक्तं, तेन संकल्प एवं मनसो वृत्तिः, त्रयस्य बुद्ध्यहंकारमनसां स्वालक्षण्या च वृत्तिरसामान्या[3] या प्रागभिहिता[4] बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति । इदानीं सामान्या वृत्तिराख्यायते—**सामान्यकरणवृत्तिः**, सामान्येन करणानां वृत्तिः

---

[1] वृत्तिरिति शेषः ।

[2] एतन्मते माठरमतेन कारिकायां 'स्वालक्षण्या वृत्तिरि'ति पाठो द्रष्टव्यः । वृत्तिर्व्यापार इत्यर्थः एतदेवाह-अध्यवसाय इति ।

[3] असाधारणी ।

[4] पूर्वकारिकायामुक्ता चक्षुरादीनां स्वस्वविषयग्रहणलक्षणा वृत्तिरित्यर्थः, एवं च कारिकायां त्रयस्येति बुद्धीन्द्रियाणामुपलक्षणमेतन्मते माठरमतेऽपि, न मिश्रमते ।

प्राणाद्या वायवः पञ्च, प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायव सर्वेन्द्रियाणां सामान्या[1] वृत्तिः, यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः तस्य यत् स्पन्दनं[2] कर्म तत् त्रयोदशविधस्यापि[3] सामान्यवृत्तिः सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति, प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं करोतीति प्राणनात् प्राण इत्युच्यते। तथाऽपनयनादपानः, तत्र यत् स्पन्दनं[4] तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य। तथा समानो मध्यदेशवर्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः, तत्र यत् स्पन्दनं[5] तत् सामान्यकरणवृत्तिः। तथा ऊर्ध्वारोहरणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः, तत्रोदाने यत् स्पन्दनं[6] तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः। किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद् व्यानः, तत्र यत् स्पन्दनं तत्[7] करणजालस्य सामान्यवृत्तिरिति [8]एवमेते पञ्चवायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता, त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्यवृत्तिरित्यर्थः॥ २९॥

---

१. साधारणी। जीवनादिद्वारा सर्वकरणव्यापारबीजत्वात्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादिन्द्रियव्यापारस्य च तद्व्यापारान्वयानुविधायित्वाच्च प्राणादिवायुपञ्चकं साधारणीकरणवृत्तिरित्यर्थः, एतदेव विवृणोति—यत इत्यादिना।

२. अन्नाशनादिक्रियात्मकम्।

३. मिश्रमते तु पञ्चप्राणादिरूपां सामान्यवृत्तिस्त्रयस्यैव, 'बोध्या त्रयाणामपि करणानामित्युक्ते'।

४. मलमूत्रादेरपनयनम्।

५. रसानां नाडीष्वनुरूपनयनम्।

६. रसाद्यूर्ध्वनयनव्यापारः।

७ शरीरव्यापनम्।

८. उपसंहरति-एवमिति। व्यापारभेदवत् हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥ इत्याद्युक्तदिशा स्थानभेदस्यापि प्राणादिभेदहेतुत्वं द्रष्टव्यम्। अत्रेदं तत्त्वम्-एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेद्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी' तिश्रुतौ वायुतः प्राणस्य पृथक्कीर्तनात्प्राणानां वायुपरिणामविशेषत्वम् किन्तु संहतविहगानां पञ्जरचालनन्यायेन बुद्ध्यादिभिः स्वस्ववृत्तिरजोगुणेन शरीरस्य सदा चालनात्तच्चालनरूपव्यापार एव प्राणादयो न तु पराभिमतपञ्चवायुभेदाः किन्तु बुद्ध्या-

अन्वयः--त्रयस्य, स्वालक्षण्यम्, वृत्तिः, सा, एषा, असामान्या, भवति सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः, पञ्चवायवः, (भवन्ति) ॥ २९ ॥

व्याख्या—त्रयस्य=बुद्धि-अहङ्कार-मनसाम् । स्वालक्षण्यम्=स्वानि स्वानि लक्षणानि एव । वृत्तिः=व्यापारः । (यथा अध्यवसाय=निश्चय करना), रूपं यद् बुद्धेर्लक्षणमुक्तं तद् बुद्धेर्व्यापारः अभिमानरूपं लक्षणमहंकारस्य व्यापारः, संकल्प विकल्पात्मकं मनसो व्यापारः) सा एष वा (वृत्तिः) असामान्या=असाधारणी, करणानाम्=बुद्धि अहंकार-मनसाम्, वृत्तिः । अर्थात् त्रिविधकरणानां साधारणो, व्यापारस्तु प्राणाद्याः=प्राण अपान-आदयः । पञ्चवायवः (एव भवन्ति) ॥ २९ ॥

हिन्दी—बुद्धि-अहङ्कार-मन इन तीन प्रकार के अन्तःकरणों के अपने २ लक्षण ही व्यापार माने गये हैं, (जैसे निश्चय करना बुद्धि का व्यापार है, अभिमान करना अहंकार का, संकल्प विकल्प करना मन का व्यापार है,) और ये (अपना २ लक्षण) इनके (तीन प्रकार के अन्तःकरणों के) असाधारण (विशेष) हैं। प्राण-अपान आदि पाँच प्रकार की वायुवों को इनका साधारण व्यापार माना गया है ॥ २९ ॥

वाह्येन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार इन चारों प्रकार के कारणों के व्यापारों के क्रमशः तथा एक साथ होने को वतलाते हैं—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे, तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

गौ०-युगपच्चतुष्टयस्य, बुद्ध्यहङ्कारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्वृत्तिः,[1] बुद्ध्यहंकारमनश्चक्षूंषि

दिभिः देहपालनमेव प्राणादयः तथा च वायुतुल्यसञ्चारवत्त्वेन वायुदेवताधिष्ठिततया वा प्राणादीनां वायुशब्दवाच्यतेति ।

[1] वाह्येन्द्रियेषु कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य बुद्ध्यहङ्कारमनोरूपाभ्यन्तरकरणैः संयोगे चतुष्टयं जायते तस्य प्रत्यक्षजनने एकदैव व्यापारा भवन्तीत्यस्य चक्षुरादौ क्रमेणोदाहरणमाह—बुद्धीति । यथा विद्युत्संपाते स्थाणुव्याघ्रादाविन्द्रियसन्निकर्षे

युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति स्थाणुरयमिति। बुद्धयहंकारमनोजिह्वा युगपद्रसं गृह्णन्ति। बुद्धयहंकारमनोघ्राणानि युगपद्गन्धं गृह्णन्ति। तथा त्वक्श्रोत्रे अपि। किञ्च **क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा**, तस्येति चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति। यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा स्थाणुरयं पुरुषो वेतिसंशये सति तत्रोपरूढं तल्लिङ्गं पश्यति शकुनिं वा, ततस्तस्य मनसा संकल्पिते संशये व्यवच्छेदभूता[1] बुद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति अतोऽहंकारश्च निश्चयार्थः[2] स्थाणुरेवेति, इत्येवं बुद्धयहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा, यथा रूपे तथा शब्दादिष्वपि बोद्धव्या। **दृष्टे दृष्टविषये।** किञ्चान्यत् **तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य यत्पूर्विका वृत्तिः** अदृष्टेऽनागतेऽतीते च काले बुद्धयहङ्कारमनसां रूपं चक्षुःपूर्विका त्रयस्य वृत्तिः स्पर्शे त्वक्पूर्विका, गन्धे घ्राणपूर्विका, रसे रसपूर्विका, शब्दे श्रवणपूर्विका, बुद्धयहङ्कारमनसामनागते भविष्यति कालेऽतीते च तत्पूर्विका क्रमशो वृत्तिः, वर्त्तमाने युगपत् क्रमशश्चेति[3] ॥ ३० ॥

अन्वयः—दृष्टे, चतुष्टयस्य, तु वृत्तिः, युगपत् क्रमशश्च, निर्दिष्टा तथा अदृष्टे, अपि, तत्पूर्विका, त्रयस्य, वृत्तिः युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा ॥ ३० ॥

व्याख्या—दृष्टे = प्रत्यक्षविषयीभूतेषु पदार्थेषु। तस्य। चतुष्टयस्य = वाह्येन्द्रिय-बुद्धि-अहंकार-मनसाम् तु वृत्तिः = व्यापारः। युगपत् = एकस्मिन् काले। क्रमशश्च। निर्दिष्टा = कथिता। तथा = तथैव। अदृष्टेऽपि = अप्रत्यक्षविषयी-

---

युगपदेव निर्विकल्पक-सविकल्पकाभिमानाध्यवसाया उत्पद्यन्ते यतस्ततो झटित्यपसरतीत्यर्थः। एवं रासनादिप्रत्यक्षेऽपि द्रष्टव्यम्।

[1] पुरुषकोटिव्यावर्तिका।

[2] निर्णयफलकः, अध्यवसायजनक इति यावत्, ततश्च बुद्धिव्यापारोऽध्यवसायो भवतीत्याह-स्थाणुरेवेति।

[3] अदृष्टे परोक्षविषयेऽपि त्रयस्येन्द्रियरहितत्रयस्य युगपत्क्रमशश्च व्यापारा भवन्ति, अनुमानशब्दयोर्विषये इन्द्रियाप्रवृतेस्त्रयस्येत्युक्तम्, तयोर्विषये निर्विकल्पकाभावात् प्रथमं मनस एंव व्यापार इति मिश्राः। अनुमानशब्दविषये वृत्तिर्हि तत्पूर्विका दृष्टपूर्विकेति विशेषः अनुमाने व्याप्तिज्ञानार्थं शब्दे च शक्त्यनुमानापेक्षया प्रत्ययपेक्षेति नारायणी।

भूतेऽपि पदार्थे। तत्पूर्विका = दृष्टपूर्विका। त्रयस्य = बुद्धि-अहंकार-मनसाम्। वृत्तिः = व्यापारः। (युगपत्, क्रमशश्च भवन्ति इति सांख्यैः स्वीकृतम्)॥ ३०॥

हिन्दी—प्रत्यक्षविषयीभूतपदार्थों के विषय में चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियां तथा मन-अहंकार-बुद्धि इन चारों के देखना संकल्प, अभिमान एवं निश्चयात्मक समस्त व्यापार कभी तो युगपत् (एक काल) ही में हो जाते हैं। और कभी क्रम से भी होते हैं।

युगपत् जैसे घोर अन्धकार में बिजली की चमचमाहट से अचानक किसी शेर वगैरह को सामने देखकर वह देखने वाला व्यक्ति पूर्वोक्त देखना तथा संकल्प आदि सब व्यापारों को एक ही काल में सम्पन्न कर लेता है जिससे कि उसी क्षण वह वहाँ से भाग निकलता है।

क्रमशः जैसे मन्द आलोक में सर्वप्रथम उस सामने वाली वस्तु को देखता है, इसके बाद यह चोर है ऐसा संकल्प करता है, फिर यह तो मेरी ही तरफ आ रहा है ऐसा अभिमान करता है, इसके अनन्तर "मुझे यहाँ से हट जाना चाहिए" ऐसा निश्चय करता है, ये सब व्यापार क्रमिक हैं।

इसी प्रकार अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) स्थलीय पदार्थों के विषय में भी बाह्य इन्द्रियों को छोड़कर मन-अहंकार-बुद्धि-इन तीन कारणों के व्यापार में भी वैसे ही अर्थात् प्रत्यक्षस्थलीय पदार्थों के समान ही होते हैं—अर्थात् युगपत् और क्रमशः। अन्तर इतना ही है कि परोक्षस्थलीय जो अनुमिति-शाब्दबोध-स्मृति रूप व्यापार हैं ये प्रत्यक्षपूर्वक ही होते हैं, जैसे अनुमिति व्याप्तिज्ञानरूप प्रत्यक्षात्मकव्यापारपूर्वक हैं, शब्दबोध शक्तिज्ञानरूपप्रत्यक्षात्मकव्यापारपूर्वक हैं। स्मृति अनुभवरूपप्रत्यक्षात्मकव्यापारपूर्वक हैं॥ ३०॥

प्रश्न—पूर्वोक्त चारों करण अपने-अपने व्यापार को क्या परस्पर में सापेक्ष होकर सम्पन्न करते हैं! अथवा निरपेक्ष होकर।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्॥ ३१॥

गौ०—किञ्च स्वां स्वामिति वीप्सा, बुद्ध्यहंकारमनांसि स्वां स्वां वृत्ति

परस्पराकूतहेतुकाम् [1]'आकूतमादरसम्भ्रम' इति, प्रतिपद्यन्ते पुरुषार्थकरणाय बुद्ध्यहङ्कारादयः। बुद्धिरहङ्काराकूतं ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते[2]। 'किमर्थमिति चेत् पुरुषार्थ एव हेतुः, पुरुषार्थः कर्तव्य इत्येवमर्थ गुणानां प्रवृत्तिः, तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति, [3]'यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्त्तन्ते ?' न केनचित् कार्यते करणम्, पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः, न केनचित्, ईश्वरेण पुरुषेण वा, कार्यते प्रबोध्यते करणम् ।। ३१ ।।

अन्वयः—(करणानि) परस्पराकूतहेतुकाम्, स्वाम्, स्वाम्, वृत्तिम् प्रतिपद्यन्ते, (अत्र) पुरुषार्थ एव, हेतुः, केनचित्, करणम्, न, कार्यते ।। ३१ ।।

व्याख्या—(करणानि)। परस्पराकूतहेतुकाम्=परस्परम् । (करणानाम्) यत् आकूतम्=संकेतः । यथा—"मनसः संकल्पः, अहंकारस्य अभिमानः, बुद्धेरध्यवसायः, चक्षुःश्रोत्रादीनां दर्शनश्रवणादिकम्, वाक्पाणि-आदिकर्मेन्द्रियादीनां वचन-आदान-आदिकम्" तादृशसंकेत एव हेतुर्यत्र ताम् इत्यर्थः, स्वां स्वाम्=स्वकीयाम्-स्वकीयाम् । वृत्ति=व्यापारम् । प्रतिपद्यन्ते=प्राप्नुवन्ति । (यत्र=वृत्त्युत्पत्तौ को हेतुः) इत्यत्राह-पुरुषार्थं एव=भोगापवर्गस्वरूपः पुरुषार्थं एव । हेतुः=कारणम् । केनचित्=भोगापवर्गरूपपुरुषार्थातिरिक्तेन चेतनेन । करणम्=वक्ष्यमाणं त्रयोदशविधम् इन्द्रियादिरूपम् । न कार्यते=न हि प्रेर्यते ।। ३१ ।।

हिन्दी—दश चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ तथा मन, अहंकार, बुद्धि—ये तेरह (१३) प्रकार के करण परस्पराकूतहेतुक (परस्पर का आकूत=संकेत है कारण जिसमें ऐसे) अपने-अपने व्यापार को जीवित शरीर में रहकर निरपेक्ष रूप से स्वयं

---

[1] आकूतशब्दार्थमाह—आकूतेति । प्रवृत्त्युन्मुखत्वमित्यर्थः, अचेतनेष्वभिप्रायरूपस्याकूतस्यासम्भवात् ।

[2] अनेनेन्द्रियाव्यपाराधीनत्वान्मनसोऽहङ्कारमहतोर्मनोहङ्कारव्यापाराधीनत्वाच्च पूर्वोक्तो युगपद्वृत्तिपक्षो न संभवतीति पूर्वपक्षो निरस्तो वेदितव्यः ।

[3] आक्षेप्ता पृच्छति—यदीति । यदि सांख्यमते करणान्यचेतनानि कथं तेषां प्रवृत्तिरिति प्रश्नार्थः । स्वभाववादमाश्रित्य समाधत्ते—न केनचिदिति । भोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थस्यैवाचेतनकरणप्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्स्वभावतस्तेषां प्रवृत्तिरित्यर्थः, 'वत्सविवृद्धिनिमित्तमि'त्यत्रैतदग्रे स्वयं विवेचयिष्यते ।

सम्पन्न करते रहते हैं जिससे कि पुरुष का भोगापवर्गरूप अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध होता रहे। जिस प्रकार सैनिकयोद्धा लोग शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन-जिन शस्त्रास्त्रों को चलाने में कुशल होते हैं उन्हीं-उन्हीं अपने-अपने शस्त्रों को लेकर युद्ध करते हैं। इसी प्रकार इन तेरह प्रकार के करणों के जो उनके अपने-अपने व्यापार हैं जैसे दशविधा चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के व्यापार आलोचन आदि हैं, मन का संकल्प, अहंकार का अभिमान, तथा बुद्धि का निश्चयात्मक व्यापार है। इन व्यापारों को इन्द्रियों के द्वारा संपन्न करने में पुरुष का भोगापवर्गरूप अर्थ (प्रयोजन) ही कारण है। यह नहीं है कि इन कारणों को अपने-अपने व्यापारों को सम्पन्न करने के लिए ईश्वर रूप चेतन तत्त्व प्रेरित करता हो ॥ ३१ ॥

प्रश्न—करण कितने हैं और उनका कार्य क्या-क्या है ?

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधा हार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥ ३२ ॥

गौ०—बुद्धयादि कतिविधं तदित्युच्यते—**करणं त्रयोदशविधं** बोद्धव्यम्, महदादित्रयं, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वागादीनीति, त्रयोदशविधं करणम्। तत् किं करोतीत्येतदाह[1] **तदाहरणधारणप्रकाशकरम्**। तत्राहरणं धारणं च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि[2]। कतिविधं कार्यं तस्येति तदुच्यते—**कार्यं च तस्य दशधा**, तस्य करणस्य कार्यं कर्त्तव्यमिति दशधा दशप्रकारम्, शव्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यमेतद्दशविधं कार्यं, बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति[3] चेति ॥ ३२ ॥

---

[1] कारकविशेषस्य करणत्वाद्व्यापारावेशं विना कारकत्वासम्भवाद्व्यापारावेशमाहेत्यर्थः ।

[2] आहरणं कर्मेन्द्रियाणाम्, धारणं महदहङ्कारमनसां स्ववृत्तिप्राणादिपञ्चकद्वारा देहधारणात्, प्रकाशो बुद्धीन्द्रियाणां व्यापार इति मिश्रादयः ।

[3] मिश्रादिमते प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरमन्तःकरणत्रयमेव धारयतीति तस्यैव धार्यं कार्यं बोद्धव्यम् ।

अन्वयः—करणम्, त्रयोदशविधम्, तत्, आहरण-धारण-प्रकाशकरम्, च, तस्य, कार्यम्, दशधा, आहार्यम्, धार्यम्, च, प्रकाश्यम् ॥ ३२ ॥

व्याख्या—करणम्=व्यापारवत् कारणम् । त्रयोदशविधम्=चक्षुरादिपञ्च-ज्ञानेन्द्रियाणि आहरणकराणि—यतस्तानि विषयान् आहरन्ति अर्थात् विषयाणां ग्रहणात्मिकां क्रियां सम्पादयन्ति, मनोऽहंकारबुद्धयः धारणकराणि एते प्राणादि-द्वारा शरीरं धारयन्ति, ज्ञानेन्द्रियाणि प्रकाशकराणि अर्थात् विषयाणां ज्ञानात्मिकां क्रियां संपादयन्ति । च । तस्य=त्रयोदशविधकरणस्य । कार्यम्, दशधा=दशप्रकारकम् । (वर्तते) आहार्य्यं=आहरणयोग्यम्, ग्रहणयोग्यमित्यर्थः । धार्यम्=धारणयोग्यम् । च प्रकाश्यम्=ज्ञातुं योग्यम् ।

अयमाशयः—कर्मेन्द्रियाणां ये वचन-आदान-विहरण-उत्सर्ग-आनन्दस्वरूपाः कर्मेन्द्रियैर्ग्राह्याः पञ्च विषयाः सन्ति ते दिव्य-अदिव्यभेदेन दशधा वर्त्तन्ते, तत्र देवताप्रभृतीनां वचनादयो दिव्याः, अस्मदादीनाञ्च अदिव्याः ।

एवं ज्ञानेन्द्रियैर्धारणयोग्याः रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दात्मकाः पञ्च विषया अपि दिव्यादिव्यभेदाद्दशधा भवन्ति । दिव्या देवानामदिव्याश्चास्मदादीनाम् ।

एवमेव मनोऽहंकारबुद्धिभिर्धारणयोग्या ये पाञ्चभौतिकशरीरस्वरूपाः पञ्च विषयाः सन्ति तेऽपि दिव्यादिव्यभेदेन दशधा भवन्ति, तत्र देवादीनां शरीराणि दिव्यानि अस्मदादीनाञ्च शरीराणि अदिव्यानि ।

हिन्दी—संसार के अन्दर किसी भी पदार्थ को ग्रहण करना, धारण करना या प्रकाश करना पूर्वोक्त त्रयोदशविध करण के अधीन होता है यह सांख्य का कहना है, परन्तु प्रकार भिन्न-भिन्न हैं जैसे कर्मेन्द्रियाँ वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द इनका ग्रहण करती हैं अतः कर्मेन्द्रियों का वचन आदि का ग्रहण करना ही व्यापार है। मन-अहंकार-बुद्धि—ये प्राणादि पाँच वायुओं के आधार पर शरीर को धारण करते हैं अतः इनका शरीर को धारण करना ही व्यापार है और चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपादि तथा रूपादिमान् घट-पट आदि विषयों का प्रकाशन करती हैं। अतः उनका यही व्यापार है।

और इन तेरह प्रकार के करणों का आहार्य्य-धार्य्य प्रकाश्य यह प्रत्येक दस प्रकार का कार्य होता है अर्थात् आहार्य्य भी दस प्रकार का, धार्य भी दस प्रकार का और प्रकाश्य भी दस प्रकार का है। जैसे वागादि पाँच कर्मेन्द्रियों के वचन आदि जो पाँच ग्राह्य विषय हैं वे दिव्य (अलौकिक) अदिव्य (लौकिक)

भेद से दस प्रकार के हो जाते हैं। अर्थात् स्वर्गलोक में रहने वाले देवता लोगों के वचन आदि विषय दिव्य हैं और अस्मदादि के अदिव्य हैं। इसी प्रकार मन-अहंकार बुद्धि इनके द्वारा धारण किये जाने वाले देवता लोगों के पाँच भौतिक शरीर आदि दिव्य हैं और अस्मदादियों के अदिव्य हैं अतः वे भी दस प्रकार के हैं।

ऐसे ही देवताओं की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रकाश्य शब्दादि पाँच विषय दिव्य है और हम लोगों के अदिव्य हैं अतः वे भी दस हैं ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्त त्रयोदशविधकरणों के बाह्य-आभ्यन्तर भेद से द्वैविध्य का प्रदर्शन करते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

गौ०—किञ्च–अन्तःकरणमिति। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिविधं महदादिभेदात्[1], दशधा बाह्यं च, बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च दशविधमेतत् करणं बाह्यम्, तत्त्रयस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं बुद्ध्यहङ्कारमनसां[2] भोग्यं साम्प्रतकालं—[3]श्रोत्रं वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति नातीतं न च भविष्यन्तं चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति नातीतं नानागतं, त्वग्वर्त्तमानं स्पर्शं, जिह्वा वर्त्तमानं रसं, नासिका वर्त्तमानं गन्धं नातीतानागतं चेति। एवं कर्मेन्द्रियाणि-वाग्वर्त्तमानं शब्दमुच्चारयति[4] नातीतं नानागतं, पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते नातीतमनागतं च, पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो नातीतं नाप्यनागतं, पायूपस्थौ च वर्त्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतो नातीतौ नानागतौ, एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकाल-

---

[1] अभ्यन्तरवृत्तित्वादन्तःकरणमित्युच्यत इत्यर्थः ।

[2] व्यापारजनकम्, मनोऽहङ्कारबुद्धीनां व्यापारेषु बुद्धीन्द्रियव्यापारस्योपयोगात्, कर्मेन्द्रियव्यापारस्यापि ज्ञानेन्द्रियव्यापारद्वाराऽन्तःकरणव्यापारे उपयोगः, कर्मेन्द्रियव्यापारेण जनिते पदार्थे बुद्धीन्द्रियप्रवृत्त्यन्तःकरणप्रवृत्तेरित्यर्थः ।

[3] बाह्याभ्यन्तरकरणयोर्विशेषान्तरमाह–साम्प्रतकालमिति । तदेव विशदमति श्रोत्रमिति ।

[4] नन्वयुक्तमेतत् उच्चारणविषयशब्दस्य पूर्वमसिद्धत्वेनानागतत्वात् कथं वागिन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वमिति चेत् । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'ति पाणिनीयानुशासननियमेन वर्तमानसमीपस्थानागतस्यापि शब्दस्य वर्तमानत्वाभ्युपगमान्न दोषः ।

मुक्तम् । **त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्** बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि वुद्धिर्वर्तमानं घटं बुध्यते अतीतमनागतं चेति, अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च, तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेऽतीतेऽनागते[1] च, एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति ।। ३३ ।।

अन्वयः—अन्तःकरणम्, त्रिविधम्, दशधा बाह्यम्, त्रयस्य विषयाख्यम्, बाह्यम्, साम्प्रतकालम्, आभ्यन्तरम्, करणम्, त्रिकालम् ।। ३३ ।।

व्याख्या—अन्तःकरणम्=शरीराभ्यन्तरवर्ति करणम् । त्रिविधम्=मनोऽहंकारवुद्धिरूपम् । दशधा=दशविधम् करणम् । बाह्यम्=पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रियरूपम् । त्रयस्य=मनोऽहङ्कारवुद्धीनाम् । विषयाख्यम्=विषयसमर्पकम् अर्थात् विषयसमर्पकतया सहकारि भवतीत्यर्थः । (दशविधं करणं रूपादि घटादिविषयान् गृहीत्वा मनोऽहंकारवुद्धिभ्यः समर्पयतीत्यर्थः, बाह्यम्=दशविधं बाह्यं करणम् । साम्प्रतकालम्=वर्तमानकालीनविषयग्राहकम् । आभ्यन्तरम्=शरीराभ्यन्तरवर्ति । करणम्=मनोऽहंकारबुद्धयः) त्रिकालम्=भूत-भविष्यद्-वर्तमानकालीनविषयग्राहकम् (वर्तते) ।। ३३ ।।

हिन्दी—मन अहंकार बुद्धि इन्हें शरीर के अन्दर रहने से अन्दर के करण कहा है । और चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये दस प्रकार के बाह्यकरण रूपादि विषयों को ग्रहण करके मन-अहंकार बुद्धि इन तीन आभ्यन्तरकरणों के लिये समर्पित करते हैं । विशेषता यह है कि बाह्यकरण साम्प्रत (वर्तमान) कालीन विषयों के ही ग्राहक हैं, और आभ्यन्तर करण भूतभविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों के विषयों के ग्राहक हैं । अर्थात् अनुमान और शब्द की सहायता के आधार पर तीनों आभ्यन्तर करण भूत-भविष्य कालीन विषयों के ग्राहक हैं, और इन्द्रियों के द्वारा वर्तमानकालीन विषयों का ग्रहण करते हैं ।। ३३ ।।

प्रश्न—पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रियरूप दशविधकरणों में से कौन सी इन्द्रियाँ विशेष (स्थूल) विषय की ग्राहक हैं और कौन अविशेष (सूक्ष्म) विषयों की ग्राहक हैं ?

---

[1] कर्मेन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वं बुद्धीन्द्रियद्वारेति चन्द्रिकाकारः । अनुमान-शब्दसहकारेणातीतानागतंविषयकम्, इन्द्रियसहकारेण वर्तमानविषयकमिति केचित् ।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ।।३४।।

गौ०—इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, कानि निर्विशेषमिति तदुच्यते[१]—**बुद्धीन्द्रियाणि तेषां** सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, सविशेषविषयं मानुषाणां, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति । देवानां[२] निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति । तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये **वाग्भवति शब्दविषया,** देवानां मानुषाणां वाग्वदति श्लोकादीनुच्चारयति,[३] तस्माद् देवानां मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम् । शेषाण्यपि वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसंज्ञितानि **पञ्चविषयाणि,** पञ्च विषयाः शब्दादयो येषां तानि पञ्चविषयाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणौ सन्ति[४] पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो विहरति, पाय्विन्द्रियं पञ्चकल्कसमुत्सर्गं करोति, तथोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयति ।। ३४ ।।

अन्वयः—तेषाम्, पञ्च, बुद्धीन्द्रियाणि, विशेषाविशेषविषयाणि, वाक्, शब्दविषया, भवति, शेषाणि, तु, पञ्चविषयाणि, (भवन्ति) ।

व्याख्या—तेषाम्=दशविधबाह्येन्द्रियाणां मध्ये । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि=चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि । विशेषाविशेषविषयाणि । विशेषाः=स्थूलाः रूपादयः अविशेषाः=तन्मात्रस्वरूपाः सूक्ष्मारूपादयः, त एव विषया येषां तानि=स्थूलसूक्ष्मोभयविधरूपादिविषयग्राहकाणीत्यर्थः । (अस्माकं चक्षुरादीन्द्रियाणि स्थूलरूपादिविषयान् गृह्णन्ति-देवतानाञ्चेन्द्रियाणि सूक्ष्मान्) वाक्=वागिन्द्रियम् । शब्दविषया=शब्दात्मकविषयग्राहिका । शेषाणि=पाणि-पाद-प्रभृति-अवशिष्टानि कर्मेन्द्रियाणि । पञ्चविषयाणि=पञ्च विषयाः शब्दादयो येषां तानि । (पाणिः

---

[१] साम्प्रतकालानां बाह्येन्द्रियाणां मध्ये केषां स्थूलशब्दादिग्राहकत्वं केषां वा सूक्ष्मशब्दतन्मात्रादिग्राहकत्वमिति विविच्यत इत्यर्थः ।

[२] इदमुपलक्षणम्, ऊर्ध्वस्रोतसां योगिनां च बुद्धीन्द्रियाण्यतीन्द्रियविषयान् प्रकाशयन्तीति ।

[३] श्लोकाद्यात्मकं स्थूलशब्दं, न तु तन्मात्ररूपं तस्याहंकारजन्यत्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वादतः सर्वेषां वागिन्द्रियं समानमेतदेवाह—तस्मादिति ।

[४] पाण्याद्याहार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मकत्वात्पञ्चविषयत्वमित्यन्ये ।

शब्दादिपञ्चविषयसहितं घटं गृह्णाति, एवं पादादि इन्द्रियाण्यपि स्वस्वविषयान् गृह्णन्ति) ।। ३४ ।।

हिन्दी—पूर्वोक्त दस प्रकार की बाह्य इन्द्रियों में से चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शब्दादि पाँच विशेष (स्थूल) तथा अविशेष (सूक्ष्म) शब्दादि-विषयों को ग्रहण करती रहती हैं, जिनमें हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूलशब्दादि विषयों की ग्राहक हैं और देवता तथा योगियों की ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्मस्थूल दोनों प्रकार के शब्दादि विषयों की ग्राहक हैं । कर्मेन्द्रियों में से 'वाक्' इन्द्रिय एक-मात्र स्थूल शब्द का ही ग्रहण कर पाती है । और शेष पाणि-पाद आदि कर्मेन्द्रियाँ शब्दादि पाँच विषयों को ग्रहण करती हैं कारण कि वे जब शब्दादि विषयों से सहित घट-पट आदि विषयों का ग्रहण कर लेती हैं ।। ३४ ।।

अब हम तेरह प्रकार के करणों में दशविध बाह्य इन्द्रियरूप करणों की अप्रधानता और तीन प्रकार आभ्यन्तर करणों की प्रधानता को सहेतुक बतलाते हैं—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ।।३५।।

गौ०—सान्तःकरणा[1] बुद्धिः, अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः, यस्मात् सर्वं विषयमवगाहते गृह्णाति, [2]त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि करणानीति वाक्यशेषः ।। ३५ ।।

अन्वयः—यस्मात्, सान्तःकरणा, बुद्धिः, सर्वम्, विषयम्, अवगाहते, तस्मात्, त्रिविधम्, करणम्, द्वारि, शेषाणि, द्वाराणि ।। ३५ ।।

व्याख्या—यस्मात्=यस्मात् कारणात् । सान्तःकरणा=मनोऽहंकाररूप-अन्तःकरणसहिता । बुद्धिः । सर्वम् । विषयम्=त्रिकालवृत्तिम् समस्तमपि विषयम् । अवगाहते=निश्चिनोति । तस्मात्=तस्मात् कारणात् । त्रिविधम् । करणम्=मनोऽहंकारबुद्धयः । द्वारि=व्यापारवत्, (प्रधानम्) । शेषाणि=अवशिष्टानि करणानि बाह्येन्द्रियस्वरूपाणि । द्वाराणि=व्यापाराणि, अप्रधान-भूतानि सन्तीति शेषः ।

---

[1] त्रयोदशकरणेषु बाह्येन्द्रियाणामप्राधान्यमन्तःकरणत्रयस्य प्राधान्यं च वक्तुमाह—सान्तःकरणेति ।

[2] बाह्येन्द्रियैरुपनीतं सर्वविषयं समनोहंकारा बुद्धिर्यस्सादध्यवस्यतीत्यर्थः, तत्रापि विशेषमाह—त्रिष्वपीति । द्वारि प्रधानम् ।

अयमाशयः—चक्षुरादिबाह्येन्द्रियाणि घट-पट-आदि-विषयान् गृहीत्वा अन्तःकरणाय (मनसे) समर्पयन्ति अतो बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, मनो द्वारि मनश्च तेषु पदार्थेषु मध्ये संकल्पविकल्पादिकं कृत्वा तान् पदार्थान् अहंकाराय समर्पयति अतोऽत्र मनो द्वारम् अहङ्कारश्च द्वारी, अहङ्कारश्च मनोद्वारा समर्पितान् तान् पदार्थान् अभिमत्य बुद्धयै समर्पयति अत्र अहंकारस्य द्वारत्वं बुद्धेश्च द्वारित्वम्, बुद्धिरपि तान् पदार्थान् सम्यग् विनिश्चित्य आत्मभूताय पुरुषाय समर्पयति अत्र च बुद्धेर्द्वारत्वं पुरुषस्य च द्वारित्वं समुपपन्नम्। परन्तु बाह्यकरण-आभ्यन्तर-करणयोर्मध्ये आभ्यन्तरकरणानामेव द्वारित्वम् (प्राधान्यम्), बाह्यकरणानाञ्च द्वारत्वम् (अप्राधान्यम्) आभ्यन्तरकरणानां च मध्ये बुद्धेरेव सर्वथा प्राधान्यम्।

हिन्दी—मन तथा अहंकार सहित बुद्धि जिस कारण सभी बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त किये विषयों का पुरुष के भोग के लिये निश्चय करती है, इस कारण तीनों भीतरी करण द्वारि—प्रधान हैं और बाकी के दस बाह्य इन्द्रिय द्वार अप्रधान हैं, क्योंकि साक्षात् या परम्परा से बाह्येन्द्रियों के द्वारा ही भीतरी करण विषयों में अपना-अपना व्यापार करते हैं ।। ३५ ।।

बुद्धि केवल बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा ही प्रधान नहीं है अपितु मन-अहंकार को अपेक्षा भी वह प्रधान ही है—इसी बात को बतलाते हैं—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ।। ३६ ।।

गौ०—किञ्चान्यत्–यानि करणान्युक्तानि एते गुणविशेषाः, किंविशिष्टाः? **प्रदीपकल्पाः** प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः, **परस्परविलक्षणा** असदृशा भिन्न-विषया इत्यर्थः। **गुणविशेषा इति।** गुणविशेषा गुणेभ्यो जाताः[1]। **कृत्स्नं पुरुषार्थं** बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं पुरुषस्य **प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति** बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः,[2] यतो बुद्धिस्थं सर्वं विषय-सुखादिकं पुरुष उपलभ्यते ।। ३६ ।।

---

[1] सत्त्वरजस्तमसां विकास इत्यर्थः। गुणानां भेदाः सत्त्वाद्या येषु ते तथोक्ता इति चन्द्रिकाकारः।

[2] यथा ग्रामाध्यक्षः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे तच्च

अन्वयः—एते परस्परविलक्षणः गुणविशेषाः, प्रदीपकल्पाः, पुरुषस्य, कृत्स्नम्, अर्थम्, प्रकाशं, बुद्धौ, प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

व्याख्या—परस्परविलक्षणाः=परस्परविरोधिविषयग्राहकाः। गुणविशेषाः=सत्त्वरजस्तमसां परिणामभूताः। एते=चक्षुरादिवागिन्द्रियदशकं मनोऽहंकारा द्वादश। प्रदीपकल्पाः=प्रदीपवद् विषयप्रकाशकाः (ग्राहकाः)। पुरुषस्य=आत्मनः। कृत्स्नं=समस्तं। अर्थं=विषयजातम्। प्रकाश्य=प्रकाशं नीत्वा। बुद्धौ=महत्तत्त्वे प्रयच्छन्ति अर्पयन्ति। (बुद्धिश्च पुनः तत् समस्तं भोग्यजातं पुरुषाय समर्पयति। यथा ग्रामाध्यक्षा ग्रामीणव्यक्तिभ्यः करं गृहीत्वा जनपदाध्यक्षाय (जिलाऽध्यक्षाय) प्रयच्छति, स च स्वोपरिवर्तिने, सोऽपि राज्यमण्डलस्य सर्वेषामध्यक्षभूतानामुपरिवर्तिने प्रधानमन्त्रिणे ददाति, प्रधानमंत्री च तादृशसमस्तदेशस्वामिने राज्ञे प्रयच्छति। एवमेव दशविधाबाह्येन्द्रियाणि स्वस्वविषयमालोच्य स्वाध्यक्षभूताय मनसे समर्पयन्ति, मनश्च "इदमेवं नैव"मिति संकल्प्य जिलाध्यक्षस्थानीयाहंकाराय, स च प्रधानमंत्रिस्थानीयबुद्धये समर्पयन्ति, बुद्धिश्च सर्वतोभावेन विनिश्चित्य भूपतिस्थानीयपुरुषाय प्रयच्छति।) तदेवोक्तम्—"कृत्स्नं पुरुषस्यार्थमित्यादि"।

हिन्दी—सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण इन तीनों गुणों के परिणाम-भूत परस्पर विरोधी विषयों के ग्राहक तथा दीपक के समान विरोधी विषयों से सम्पन्न होते हुए भी एकत्र मिलकर कार्य करने वाले ये दशविध बाह्य इन्द्रिय, मन और अहंकार पुरुषार्थ साधनभूत सांसारिक समस्त घट-पट आदि विषयों को ग्रहण कर बुद्धि के लिये समर्पण कर देते हैं ॥ ३६ ॥

बुद्धि के सबकी अपेक्षा प्रधान होने में दूसरी युक्ति भी बतलाते हैं—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

गौ०—इदश्चान्यत्[1] सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु सर्वं प्रत्युपभोगमुप-

---

सङ्कल्प्याहङ्काराय स चाभिमत्य सर्वाध्यक्षरूपायां बुद्धौ प्रयच्छतीत्यर्थः। बुद्धिस्थकरणे हेतुमाह—यत इति।

[1] बुद्धिरपि न स्वार्था किन्तु परार्थेत्याह-सर्वमिति नारायणः। कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति न तु बुद्धिरहङ्काराय द्वारिणे मनसे वेत्यत आहेति मिश्राः।

भोगं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्बुद्धीन्द्रियद्वारेण सान्तःकरणा बुद्धिः साधयति सम्पादयति[1] यस्मात् तस्मात् **सैव च विशिनष्टि** प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति, **प्रधानपुरुषान्तरं**[2] नानात्वमित्यर्थः, **सूक्ष्म**मित्यनधिकृततपश्चरणैरप्राप्यम्, इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था इयं बुद्धिरयमहङ्कार एतानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्ययमन्यः पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्त इत्येवं बोधयति बुद्धिः, यस्यावापा[3]दपवर्गो भवति ॥ ३७ ॥

अन्वयः—यस्मात्, बुद्धिः, सर्वम्, प्रत्युपभोगम्, पुरुषस्य, साधयति, सैव च, पुनः सूक्ष्मम्, प्रधानपुरुषान्तरम्, विशिनष्टि ॥ ३७ ॥

व्याख्या—यस्मात्=यस्मात् कारणात् । बुद्धिः । सर्वम् । प्रत्युपभोगम्=सुख-दुःखादि-समस्तविषयाणां साक्षात्कारम् । पुरुषस्य=पुरुषस्य कृते । साधयति=साम्पादयति । च । सैव=बुद्धिरेव । पुंसः । सूक्ष्मम्=अज्ञायमानम् । प्रधान-पुरुषान्तरम्=प्रधान-पुरुषयोर्मध्ये भेदम् । विशिनष्टि=करोति ।

हिन्दी—जिस कारण से बुद्धि सुख-दुःख एवं उनके साधन सम्बन्धी समस्त विषयों का उपभोग का संपादन पुरुष के लिए करती रहती है, और आखिर में फिर वही बुद्धि पुरुष को सांसारिक बन्धन से छुड़ाने के लिये प्रकृति और पुरुष में भेदज्ञान को उत्पन्न कर देती है ॥ ३७ ॥

प्रश्न—पहिले ३४ वीं कारिका में जो विशेष और अविशेष दो प्रकार के विषय बतलाते हैं—वे कौन हैं ?

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

---

[1] पुरुषसान्निध्यात्तच्छायापत्त्या प्राप्तचेतनेव बुद्धिस्सर्वविषयं सुखदुःखानुनभवात्मकं भोगं पुरुषस्य सम्पायतीति भावः ।

[2] अन्तरं विशेषं विशिनष्टि करोति, यथौदनपाकं पचतीति, करणं च प्रतिपादनम्, विद्यमानमेवान्तरमविवेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति न तु करोतीत्यर्थः, एतेन प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादनित्यत्वं मोक्षस्य स्यादिति परास्तम् । सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं तदन्तरमिति वाचस्पतिमिश्राः ।

[3] प्राप्तेः ।

गौ०—पूर्वमुक्तं विशेषाविशेषविषयाणि, तत् के [1]विषयास्तान् दर्शयति—यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्, एतान्यविशेषा उच्यन्ते [2]देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः, तेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते **एते स्मृता विशेषाः**, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम्, इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतान्येते विशेषा [3]मानुषाणां विषयाः **शान्ताः**—सुखलक्षणाः, **घोराः**—दुःखलक्षणाः, **मूढाः**—मोहजनकाः [4]यथाऽऽकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति, तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति, तदेव पन्थानं गच्छती वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति। एवं वायुर्घर्मार्त्तस्य शान्तो भवति शीतार्त्तस्य घोरो धूलिशर्कराविमिश्रोऽतिवान् मूढ इति। एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तन्मत्राणि, अविशेषाः, तेभ्यः, पञ्चभ्यः, पञ्च भूतानि, (भवन्ति) एते विशेषाः, स्मृताः, शान्ताः, घोराश्च, मूढाश्च ॥ ३८ ॥

व्याख्या—तन्मात्राणि। अविशेषा=सूक्ष्माः। तेभ्यः=पञ्चतन्मात्रेभ्यः। पञ्चभ्यः। पञ्च भूतानि=पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपाणि महाभूतानि। (भवन्ति)। एते=पञ्चमहाभूतानि। विशेषाः=स्थूलाः। स्मृताः=कथिताः। (एते च पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतपदार्थाः) शान्ताः=सत्त्वोद्रेकात् शान्तिदायकाः, सुखदा इत्यर्थः। घोराः=रजोगुणोद्रेकात् दुःखदाः। च। मूढाः=तमोबाहुल्यात् मोहजनकाः।

हिन्दी—तन्मात्राएँ सूक्ष्म कही गयी हैं और उन पञ्चतन्मात्राओं से पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

इन पञ्चमहाभूतों को विशेष (स्थूल) कहा है। और ये सत्त्वगुण के प्रधान होने पर सुख शान्ति के प्रदान करने वाले होते हैं, रजोगुण की प्रधानता

---

[1] विशेषाविशेषरूपा ज्ञानेन्द्रियाणां विषया इत्यर्थः।

[2] शान्तघोरमूढत्वाद्युपभोगयोग्यत्वाभावादत एव च मात्रशब्देनैतेषां सूक्ष्मत्वं सूचितम्। ते केषां विनया इत्यत आह—देवानामिति।

[3] उपभोगयोग्यशान्तादिमत्त्वं विशेषत्वं स्थूलमहाभूतेष्वेवाऽतस्ते विशेषपदवाच्या इत्यर्थः। एते केषां विषया इत्याह—मानुषाणामिति।

[4] प्रत्येकं शान्तादिमत्त्वलक्षणस्य लक्ष्ये सङ्गतिं दर्शयति—यथेति।

से दुःख-दारिद्रय के देने वाले होते हैं और तमोगुण के प्राधान्य से मोह तथा अज्ञान को देने वाले होते हैं ।। ३८ ।।

सांख्य ने विशेष को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया है अर्थात् सांख्यमत में विशेष तीन प्रकार के होते हैं इसी बात को बतलाते हैं—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ।।३९।।

गौ०—अथाऽन्ये विशेषाः—[1] **सूक्ष्मा**स्तन्मात्राणि यत्संगृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्मशरीरं महदादिलिङ्गं सदा तिष्ठति संसरति च ते सूक्ष्माः, तथा[2] **मातापितृजाः** स्थूलशरीरोपचायका—ऋतुकाले मातापितृसंयोगे शोणितशुक्रमिश्रीभावेनोदरान्तः सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति, तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशितपीतनानाविधरसेन नाभिनिबन्धेनाप्यायते, [3]तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्मातापितृजैश्च सह महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभृति षाट्कौशिकं[4] पाञ्च-

---

१. विविधविशेषान्तरे प्रथमं दर्शयति—सूक्ष्मा इत्यनेन । संसारनिदानभूता लिङ्गशरीराख्याः सूक्ष्मतन्मात्राद्यारब्धतया सूक्ष्मा येऽभिधीयन्ते सांख्यैः स प्रथमो विशेष इत्यर्थः ।

२. द्वितीयं तृतीयं च विशेषमेकवाक्येनाह—तथेति । मातापितृजशरीररूपद्वितीयविशेषस्य स्थूलशरीरोपचायकत्वक्रमं दर्शयति—ऋतुकाल इत्यादिना । आप्यायत इति । सूक्ष्मशरीरोपचायकत्वद्वारा मातापितृजस्य स्थूलशरीरोपचायकत्वमिति भावः ।

३. यद्यपि सूक्ष्ममातापितृजयोः परिणाम एव स्थूलशरीरन्तथापि त्रिविधविशेषारब्धन्तदित्याह—तथापीति ।

४. षाट्कौशिकमिति । एवमारब्धं स्थूलशरीरं पृष्ठोदरादिषडङ्गम् इत्यर्थः । 'तच्च षडङ्गं शाखाश्चतस्रो मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर इति सुश्रुतोक्तेः, एवं च लोमलोहित-मांसस्नाय्वस्थिमज्जानां षट्कोशत्वं वाचस्पत्युक्तमसङ्गतमिव प्रतिभाति, एतेषां शरीरलक्षणवर्गे पाठात्, तत्रापि स्थिरपितृजलोम्नां मातृजत्वोक्तिर्मज्जायाश्च मृदुमातृजमध्यगणितायां पितृजत्वोक्तिर्मिश्रोक्ता विरुद्धैव 'गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरास्नायुधमनी रेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जाहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि

भौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जसम्भृतम् [1]आकाशोऽवकाशदानाद्वायुर्वर्द्धनात् तेजः पाकादापः संग्रहात् पृथिवी धारणात् समस्तावयवोपेतं मातुरुदराद् बहिर्भवति । एवमेते त्रिविधाः विशेषाः स्युः । अत्राह—'के नित्याः के वा अनित्याः ? सूक्ष्मास्तेषां नियताः नियता नित्याः सूक्ष्मास्तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये के वा तैरारब्धं शरीरमधर्मवशात्[2] पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजातिषु संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति न यावज्ज्ञानमुत्पद्यते, उत्पन्ने ज्ञाने विद्वाञ्छरीरं त्यक्त्वा मोक्षं गच्छति, तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति । मातापितृजा निवर्त्तन्ते, सूक्ष्मशरीरं परित्यज्येहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजाः निवर्त्तन्ते, मरणकाले मातापितृजं शरीरमिहैव निवृत्य भूम्यादिषु प्रलीयते यथातत्त्वम्[3] ।। ३९ ।।

अन्वयः—सूक्ष्माः, मातापितृजाः, प्रभूतैः, सह, विशेषाः, त्रिधा, स्युः, तेषाम्, सूक्ष्माः, नियताः, मातापितृजाः, निवर्तन्ते ।। ३९ ।।

व्याख्या—सूक्ष्माः=सूक्ष्मशरीराणि । मातापितृजाः=स्थूलदेहाः, ये मातापितृभ्यां जायन्ते । प्रभूतैः=पर्वत-वृक्षादि-महाभूतपदार्थैः । सह=सह मिलित्वा । विशेषाः=स्थूलाः । त्रिधा=त्रिविधाः । स्युः=भवन्ति । तेषाम्=त्रिविधविशेषाणां मध्ये । सूक्ष्माः=सूक्ष्मशरीराणि । नियताः=नित्याः । मातापितृजाः=स्थूलदेहाः । निवर्तन्ते=नश्यन्ति ।। ३९ ।।

हिन्दी—सूक्ष्मशरीर-स्थूलशरीर-पर्वत वृक्षादिरूपमहाभूत ये तीन विशेष शब्दाभिधेय हैं । उनमें सूक्ष्म-प्रलयकालपर्यन्तस्थायी होने के नाते नियत (नित्य) है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) प्रलयकाल पर्यन्त ही स्थायी रह पाता है बाद में नष्ट हो जाता है अतः प्रलयकाल पर्यन्त स्थायित्वरूप नित्यत्व ही सूक्ष्मशरीर में माना गया है । और माता-पिता के रजवीर्य से उत्पन्न हुआ

मातृजानीति' शारीरकस्थानोक्तेः, एवं चैतन्मते शोणितशुक्रयोर्मातापितृजत्वं वाचस्पतिमते मांसादीनामित्यवधेयम् ।

[1] पाञ्चभौतिकत्वमेव स्फुटयति—आकाश इति । शारीरिकप्राणादिसमस्तव्यापारसमर्थसकलावयवसम्प्रत्तिप्रयोजकत्वं पञ्चभूतानां स्थूलशरीरे प्रदर्शयति—समस्तेति ।

[2] कर्मवशादिति पाठान्तरम् ।

[3] पार्थिवभागः पृथिव्यां जलभागो जल इत्यादिरीत्येत्यर्थः ।

यह स्थूल शरीर तथा पर्वत वृक्षादि रूप प्रभूत नामक विशेष उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं ॥ ३९ ॥

सूक्ष्म शरीर का विवेचन—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

गौ०—'सूक्ष्मं च कथं संसरति ?'[1] तत्राह-यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति । किञ्चान्यत्—असक्तं न संयुक्तं तिर्यग्योनिदेवमानुषस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात् कुत्रचिदसक्तं पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति गच्छति । **नियतम्**, यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति[2] । तच्च **महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्** । महानादौ यस्य तन्महदादि—बुद्धिरहङ्कारो मन इति, पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मपर्यन्तं तन्मात्रपर्यन्तं **संसरति** शूलग्रहपिपीलिकावत् त्रीनपि लोकान्[3] **निरुपभोगं** भोगरहितं तत् सूक्ष्मशरीरं मातापितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवतीत्यर्थः[4] । [5]**भावैरधिवासितं** पुरस्ताद्भावान् धर्मादीन् वक्ष्यामः तैरधिवासितमुपरञ्जितम् । **लिङ्गमिति**—प्रलयकाले महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं[6] प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं यत् आसर्गकालमत्र वर्त्तते,[7] प्रकृतिमोहबन्धनबद्धं सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति । पुनः सर्गकाले संसरति तस्माल्लिङ्गं सूक्ष्मम् ॥ ४० ॥

---

[1] सूक्ष्मशरीरं विभजते इति मिश्राः । लिङ्गशरीरधर्मानाहेति नारायणी ।

[2] प्रत्यात्मभिन्नमिति चन्द्रिका । आ चादिसर्गादा महाप्रलयादवतिष्ठत इति तत्त्वकौमुदी ।

[3] महदहङ्कारमनोदशेन्द्रियतन्मात्रसमुदायरूपं सूक्ष्मं शरीरमित्यन्ये ।

[4] स्थूलदेहं बिना सूक्ष्मस्य भोगासमर्थत्वादिति भावः ।

[5] ननु धर्माधर्मयोः सूक्ष्मशरीरेऽसम्भवात्कथं तन्निमित्तं सूक्ष्मस्य संसरणमत आह—भावैरिति । वक्ष्यमाणधर्माधर्मादिभावानां बुद्धौ वर्तमानत्वात्तदन्वितस्य सूक्ष्मशरीरस्यापि संसारः सम्भवतीति न दोषः । वक्ष्यामः—त्रिचत्वारिंशत्कारिकायाम् ।

[6] बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसहितम् ।

[7] प्रधाने । प्रलये कुतो न संसरति सूक्ष्मशरीरमित्यत आह प्रकृतीति ।

अन्वयः—लिङ्गम्, पूर्वोत्पन्नम्, असक्तम्, नियतम्, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्, भावैरधिवासितम्, (सत्) निरुपभोगम्, संसरति ॥ ४० ॥

व्याख्या—लिङ्गम्=सूक्ष्मशरीरम् । पूर्वोत्पन्नम्=सृष्टयारम्भकाले प्रधानादुत्पन्नम् । असक्तम्=अव्याहतगतिकम् अर्थात् परमाण्वादौ शिलादौ च प्रवेशनशक्तिसम्पन्नम् । नियतम्=नित्यम् अर्थात् सृष्टिमारभ्य महाप्रलयपर्यन्तं स्थायि । महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्=महदहङ्कार-एकादशेन्द्रिय पञ्चतन्मात्रपर्यन्त-अष्टादशपदार्थैर्विनिर्मितम् । भावैरधिवासितम्=भवति जगत् एभ्यस्ते भावाः, तैर्भावैः=धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यरूपैः, अधिवासितम्=युक्तम् (सत्) । निरुपभोगम्=सुखदुःखादि-अन्यतरसाक्षात्काररूपभोगरहितम् । संसरति=पूर्वपूर्वस्थूलशरीराणि परित्यज्य नवनवस्थूलशरीरेषु भोगार्थं गच्छति ।

हिन्दी—यह लिंग शरीर मन अहङ्कार पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्राओं के आधार पर प्रकृति के द्वारा सृष्टि के आरम्भकाल में सर्वप्रथम उत्पन्न होता है और यह अव्याहत-गतिशील तथा नित्य है अर्थात् यह परमाणु आदि कठिन पदार्थों के अन्दर भी बड़ी आसानी से प्रवेश कर जाता है, और सूक्ष्म से लेकर प्रलयकाल पर्यन्त स्थायी है यही इसका नित्यत्व है तथा धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्य इन आठ प्रकार के भावों से युक्त होकर, स्थूल शरीर के बिना किसी भी विषय का उपभोग करने में सर्वथा असमर्थ होता हुआ पूर्व पूर्व स्थूल शरीरों को छोड़ कर नये नये अन्य स्थूल शरीरों के अन्दर प्रवेश करता रहता है ॥ ४० ॥

प्रश्न—अहङ्कार तथा एकादश इन्द्रियों के सहित बुद्धि को ही स्थूल शरीरों में गमन-आगमन करने वाली मान लिया जाय क्या आवश्यकता है सूक्ष्म शरीर की ?

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

गौ०—'किंप्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरती'त्येवं चोदिते सत्याह—[1]चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः कीलकादिभ्यो विना छाया न तिष्ठति, तैर्विना न भवति, आदिग्रहणाद् यथा शैत्यं विना नापो भवन्ति

---

[1] ननु तर्हि साहंकारेन्द्रियबुद्धित एव भोगोऽस्तु कृतं सूक्ष्मेणाधामाणिकेनेत्यत आह—चित्रं यथेत्यन्ये ।

शैत्यं वाऽद्भिर्विना, अग्नि रूपं विना, वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, तद्वदेतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, [1]विनाऽविशेषैरविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति । [2]अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते, शरीरं पञ्चभूतमयम्, वैशेषिणा शरीरेण विना क्व लिङ्गस्थानं चेति क्व एकदेहमुज्झति तदेवान्यमाश्रयति, निराश्रयमाश्रयरहितम्, लिङ्गं त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः ।। ४१ ।।

अन्वयः—यथा, चित्रम्, आश्रयम्, ऋते, न तिष्ठति, यथा, छाया, स्थाण्वादिभ्यः, विना, न तिष्ठति, तद्वत्, लिङ्गम्, विशेषैः, विना, निराश्रयम्, न, तिष्ठति ।।

व्याख्या—यथा=येन प्रकारेण । चित्रम्=मनुष्यादीनां चित्रम् (फोटो) । आश्रयम्=मनुष्यादिरूपाश्रयम् । ऋते=विना । न तिष्ठति । यथा छाया=वृक्षादीनां छाया । स्थाणु आदिभ्यः=वृक्षादिभ्यः । विना । न तिष्ठति=न स्थातुमर्हति । तद्वत्=तथैव । लिङ्गम्=बुद्ध्यादित्रयोदशविधं करणरूपम् लिङ्गम्, (यच्च पुरुषस्यानुमापकम्) । विशेषैः=सूक्ष्मशरीरम् । विना । निराश्रयम्=निराधारम् । न तिष्ठति ।। ४१ ।।

हिन्दी—जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र का, वृक्ष आदिकों के बिना छाया का रहना सर्वथा असंभव है, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरों के बिना वुद्धि आदि त्रयोदशविधकरणों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय-मन वुद्धि तथा अहंकारों) का निराश्रय होकर रहना नितान्त अशक्य है, क्योंकि इन त्रयोदशों का आश्रय एकमात्र सूक्ष्मशरीर ही है अतः सूक्ष्मशरीर का स्वीकार नितान्त आवश्यक है ।

सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व (सत्ता) को सिद्ध कर अब हम उसके संस्मरण (गमनागमन) तथा संसरण के हेतु को बतलाते हैं—

---

[1] अत्र जन्ममरणान्तराले बुद्ध्यादयः वर्तमानशरीराश्रिताः वर्तमानपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति वुद्ध्यादित्वात् दृश्यमानशरीरवृत्तिवुद्ध्यादिवदित्यनुमानेन मरणानन्तरं पुनः स्थूलशरीरपरिग्रहपर्यन्तं बुद्ध्यादीनामाधारभूतं वर्तमानं किञ्चिच्छरीरं वक्तव्यम्, दृश्यमानशरीरं च तदा बाधितमिति सूक्ष्मशरीरमवश्यं तन्मात्राख्यमङ्गीकर्तव्यमिति मिश्राः ।

[2] अथेति । पञ्चभूतमयं स्थूलशरीरं विशेषभूतपदवाच्यमित्यर्थः, वैशेषिणा शरीरेण सूक्ष्मेण विना, क्व लिङ्गस्थानं चेतीत्यस्य विवरणं क्वैकस्थूलदेहं त्यजति तदेव त्रयोदशविधं करणमन्यस्थूलशरीरं स्वीकरोति वा सूक्ष्ममाश्रयः विनेत्यभिप्रायः ।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

गौ०—'किमर्थम् ?' तदुच्यते[1] पुरुषार्थः कर्त्तव्य इति प्रधानं प्रवर्त्तते, स च द्विविधः—शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च । शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगावाप्तिः । गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष[2] इति । तस्मादुक्तं—'पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्त्तते' इति । **निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेन**, निमित्तं धर्मादि, नैमित्तिकमूर्ध्वगमनादि, पुरस्तादेव वक्ष्यामः[3] । प्रसङ्गेन प्रसक्त्या[4] प्रकृतेः प्रधानस्य **विभुत्वयोगात्**, यथा राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वाद् यद्यदिच्छति तत् तत् करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन **व्यवतिष्ठते** पृथक् पृथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां[5] करोति । **लिङ्गं** सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते । कथम् ? **नटवत्** । यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति पुनर्मानुषः, पुनर्विदूषकः, एवं लिङ्गं निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य हस्ती स्त्री पुमान् भवति ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पुरुषार्थहेतुकम्, इदम्, लिङ्गम्, निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन, प्रकृतेः, विभुत्वयोगात्, नटवत्, व्यवतिष्ठते ॥ ४२ ॥

---

[1] त्रयोदशविधं करणं सूक्ष्मशरीरेण सह किमर्थं किम्प्रयोजनं संसरतीत्येतदुच्यत इत्यर्थः ।

[2] तथा च भोगापवर्गात्मकः पुरुषार्थो हेतुः प्रयोजको यस्येति पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्तत इत्यनेन तस्य संसरणे पुरुषार्थ एवोद्देश्यमिति सूचितम् ।

[3] धर्मेण गमनमूर्ध्वमिति चतुश्चत्वारिंशत्कारिकायाम् ।

[4] सहयोगेन सहचारभावेनेति यावत्, यदि धर्मादिना निमित्तेन नैमित्तिकेन तत्तत्स्थूलशरीरेण वा सहायोगः स्यात् न व्यवतिष्ठेत लिङ्गशरीरं किन्तु विलीयेतेति भावः ।

[5] प्रधानविभुत्वसामर्थ्यवशान्निमित्तनैमित्तिकसहचारेण लिङ्गशरीरं पृथक् पृथक्स्थूलशरीरधारणं करोतीति व्यवस्थेति भावः । इदमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति-कथमित्यादिना ।

व्याख्या—पुरुषार्थहेतुकम्—पुरुषार्थः = पुरुषस्य (आत्मनः), अर्थः=प्रयोजनम् भोगापवर्गरूपम्, स (पुरुषार्थः) एव हेतुः = प्रयोजकः, यस्य तत् पुरुषार्थहेतुकम् = सूक्ष्मशरीरस्य गमनागमने पुरुषार्थं एव उद्देश्यम् इति भावः । इदं लिङ्गं बुद्धि-आदिभिर्विनिर्मितं सूक्ष्मं शरीरम् । निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन—निमित्ताः = अनेकविधशरीरकारणीभूता धर्माधर्माद्यष्टभावपदार्थाः, नैमित्तिकाः= स्थूलशरीरादयः, तेषां प्रसङ्गेन = धर्माधर्मादिकरणकनानाविधस्थूलशरीरधारणात्मकव्यापारेण । प्रकृतेः = प्रधानस्य । विभुत्वयोगात् = व्यापकत्वात् । नटवत्= नट इव । व्यवतिष्ठते = संसरति, मोक्षकालपर्यन्तम् अथवा प्रलयकालपर्यन्तं संसरणं करोत्येव ।

हिन्दी—पुरुष (जीवात्मा) के भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थ के कारण यह सूक्ष्म शरीर धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान आदि निमित्तकारणीभूत अष्टविध भावपदार्थों के आधार पर अनेकविधयोनियों में भ्रमण करता हुआ कभी देवशरीर, कभी मनुष्यशरीर, कभी पशु-पक्षी, कभी कीट-पतंग, कभी वृक्ष-लता आदि नैमित्तिक स्थूलशरीरों के सम्बन्ध में अपने आवागमन रूपी व्यवहार को उसी प्रकार से सम्पन्न करता रहता है जैसे कि एक नट नाटक के अन्दर कभी राम, कभी परशुराम, कभी कृष्ण, कभी हरिश्चन्द्र आदि के स्वरूप को धारण कर उनके चरित्रों का प्रदर्शन करता है ।

प्रश्न—सूक्ष्मशरीर को नानाविध स्थूल शरीरों के अन्दर संसरण की शक्ति कैसे प्राप्त हुई ?

उत्तर—"प्रकृतेर्विभुत्वयोगात्" अर्थात् प्रकृति के व्यापक होने के कारण, अभिप्राय यह है कि सांख्य ने कार्य और कारण का अभेद होने के नाते सूक्ष्मशरीरात्मक कार्य तथा प्रकृतिरूप कारण का तादात्म्य माना है, अतएव प्रकृति के विभु होने के नाते सर्वत्र स्थूल शरीरों में सूक्ष्म शरीर का संसरण संपन्न हो जाता है । क्योंकि विना कारण के कार्य की गति कैसे हो सकती है और इसी बल से कार्य और कारण के सामानाधिकरण्य का नियम भी बन जाता है ।

निमित्त (कारण अर्थात् धर्माधर्म) नैमित्तिक (कार्य अर्थात् स्थूल शरीर) के साथ सम्बन्धित होने के नाते यह सूक्ष्म शरीर बराबर संसरण करता रहता है यह कह चुके हैं—अब निमित्त और नैमित्तिक का कथन करते हैं—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

गौ०—**भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरती**त्युक्तम्, तत् के भावा इत्याह–भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते—**सांसिद्धिकाः प्राकृताः वैकृताश्च** । तत्र **सांसिद्धिका यथा**—भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना **धर्मो** ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति । **प्राकृताः कथ्यन्ते**–ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमाराः बभूवुः, तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडशवर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः[1] । तथा **वैकृता यथा** आचार्यमूर्ति निमित्तं कृत्वाऽस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञानाद्वैराग्यं वैराग्याद्धर्मः धर्मादैश्वर्यमिति, आचार्यमूर्तिरपि विकृतिरिति, तस्माद्वैकृता[2] एते भावा उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति । एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः, तामसा विपरीताः, **सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्त**[3]मित्यत्र व्याख्याताः । एवमष्टौ धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति । अष्टौ भावाः क्व वर्त्तन्ते ? **दृष्टाः करणाश्रयिणः** । बुद्धिः करणं[4] तदाश्रयिणः, एतदुक्तम्–'अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानम्' इति । कार्यं देहस्तदाश्रयाः **कललाद्या** ये मातृजा इत्युक्ताः, शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः[5] कललाद्या बुद्बुदमांसपेशीप्रभृतयः, तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयो[6] भावाः अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिण उच्यन्ते, अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते ।।४३।।

---

[1] अन्ये तु भावा धर्माद्याः ये सांसिद्धिकाः स्वाभाविकास्त एव प्राकृतिकाः सहोत्पन्नाः, यावद्वस्तुस्थायिनो वा यथा महत्तत्त्वादहंकारादय इति । एतन्मते तु सहोत्पन्नाः सांसिद्धिकाः, उत्पन्नबुद्धितत्त्वशरीराणां सनकादीनां प्रकृत्योत्पन्नाः प्राकृता इति विशेषः ।

[2] असांसिद्धिका उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः यथा प्राचेतसादीनां कदाचिद्वृत्तयो वा वैकृता इति मिश्रादयः । एतन्मतेऽपि गुरूपदेशादिनोत्पन्ना भावा ज्ञानादयो वैकृता इति न कश्चिद्विशेषः किन्तु त्रैविध्यद्वैविध्य एव पूर्वप्रदर्शितो विशेषो बोध्यः ।

[3] त्रयोविंशकारिकायाम् ।

[4] करणस्येन्द्रियादेर्भावाधिकरणत्वायोगात् करणपदस्यार्थमाह=बुद्धिः करणमिति । एतदुक्तमिति । बुद्धिरूपकरणमुक्तमित्यर्थः ।

[5] स्थूलशरीरवृद्धिहेतुका इत्यर्थः । एता गर्भस्थस्य शरीरावस्थाः, बहिर्निर्गतस्य ता आह—तथेति ।

[6] उक्तावस्थानां कार्याश्रयत्वे हेतुमाहान्नपानेति । कार्याश्रयिण इत्यस्यार्थमाहान्नादीति ।

अन्वयः—भावाः, सांसिद्धिकाः, प्राकृतिकाः, वैकृताश्च, (भवन्ति), (तत्र) धर्माद्याः, करणाश्रयिणः, दृष्टाः, च, कललाद्याः कार्याश्रयिणः, दृष्टाः ॥ ४३ ॥

व्याख्या—भावाः=धर्माधर्मादि-अष्टविधभावपदार्थाः (द्विविधा भवन्ति) सांसिद्धिकाः=स्वाभाविकाः । (अत एव ते प्राकृतिका अप्युच्यन्ते) प्राकृतिकाः—प्रकृतिः=स्वभावः, स्वभावसिद्धा इत्यर्थः । यथा सर्गादौ आदिविद्वान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नो प्रादुर्बभूव इति श्रूयते । वैकृताश्च (भावाः) =असांसिद्धिकाः, नैमित्तिका इत्यर्थः । अर्थात् ये ईश्वराराधनरूप-उपायानुष्ठानात्मकनिमित्तेन उत्पन्ना इति भावः । यथा वाल्मीकिप्रभृतयो महर्षय ईश्वराराधनं कृत्वा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणामुपार्जनं कृतवन्तः । एवमधर्म-अज्ञान-अवैराग्य अनैश्वर्याण्यापि चत्वारि राक्षसप्रभृतीनां सांसिद्धिकानि, राक्षसप्रभृतीनां संसर्गेण समुत्पन्नानि वैकृतानि । एते धर्माधर्मादि-अष्टभावपदार्थाः कस्याश्रयिण इत्यत आह—"दृष्टाः करणाश्रयिणः" (तत्र) धर्माद्याः–धर्मादि-अष्टविधभावपदार्थाः । करणाश्रयिणः—करणम्=बुद्धितत्त्वम्, तदाश्रयिण इत्यर्थः । दृष्टाः=निश्चिताः । कललाद्याः=कललवुद्वुदमांसपेशीकरण-करण्डाद्यङ्ग-प्रत्यङ्गव्यूहात्मकाश्च भावान्तरभूता विषयाः । कार्याश्रयिणः=कार्यम्—स्थूलशरीरम्, तदाश्रयिणः । दृष्टाः =निश्चिताः सांख्याचार्यैरिति शेषः ।

अयमभिप्रायः धर्माधर्मादि-अष्टविधभावपदार्थाः बुद्धितत्त्वरूपं यत् अन्तःकरणं तदाश्रयिणः सन्ति, एवम् एतेभ्योऽष्टविधभावपदार्थेभ्यश्च अतिरिक्तास्तेषां परिणामभूताः कललादयः पूर्वोक्ताः पदार्थाः स्थूलशरीराश्रयिणः सन्तीति भावः ।

हिन्दी—धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये अष्टविध भावपदार्थ दो प्रकार के माने गये हैं प्राकृतिक और वैकृतिक । प्राकृतिक वे भावपदार्थ हैं जो प्राणी के लिये सांसिद्धिक (स्वाभाविक) माने गये हैं । अर्थात् जो जन्मते ही उत्पन्न हो जाते हैं । जैसे—महामुनि कपिल धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चतुर्विध भावपदार्थों से संपन्न होकर ही पैदा हुए थे । और वैकृतिक वे हैं जो ईश्वर की तपश्चर्या आदि के आधार पर होवें । जैसे वाल्मीकि मुनि ने रामनाम की रटन्त के आधार पर प्राप्त किया था । इसी प्रकार अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य ये राक्षस अथवा राक्षस प्रकृति वालों को तो प्राकृतिक माने गये हैं । और उनका संसर्ग करनेवालों (चोर-डकैत आदि) के वैकृतिक (नैमित्तिक) कहे गये हैं । और ये अष्टविध भावपदार्थ बुद्धितत्त्वरूपकरण के

आश्रित हैं, तथा इनके परिणामभूत कललबृद्बुद आदि एवं बाल्य-यौवन-वार्द्धक्य आदि अवस्था-विशेष स्थूलशरीरात्मक कार्य के आश्रित हैं ॥ ४३ ॥

ये आठ भावपदार्थ किस-किस कार्य का संपादन करते हैं इस बात को बतलाते हैं—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

गौ०—निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेनेति[1] यदुक्तमत्रोच्यते-**धर्मेण गमनमूर्ध्वम्,**[2] धर्मं निमित्तं कृत्वोर्ध्वमुपनयति ऊर्ध्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते तद्यथा–ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो[3] निमित्तम् । किं च **ज्ञानेन चापवर्गः,** अपवर्गश्च[4] पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम्, तेन निमित्तेनापवर्गो मोक्षः ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्तते परमात्मा उच्यते । **विपर्ययादिष्यते बन्धः** अज्ञानं निमित्तम्, स चैष नैमित्तिकः प्राकृतो वैकारिको दाक्षिणिकश्च बन्ध इति वक्ष्यति पुरस्ताद्,[5] यदिदमुक्तं—'प्राकृतेन च बन्धनं तथा वैकारिकेण च । दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते' ॥ ४४ ॥

---

[1] ४२ कारिकायाम् ।

[2] धर्मेणेति । अभ्युदयहेतुना धर्माख्यभावेनोर्ध्वं स्वर्गलोकादौ गमनं भवतीत्यर्थः । एतदेवाह–धर्ममिति । उपनयति प्रापयति सूक्ष्मशरीरमात्मानमिति भावः । अथवा उपयाति इति सरलं पाठान्तरमत्र पुस्तकान्तरे द्रष्टव्यम् ।

[3] अधस्तादित्यस्यार्थमाह—पशुमृगेति । पातालादौ पश्वादिषु वाऽधर्मेण गतिर्भवतीत्यर्थः ।

[4] अपवर्गश्चेति । पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वज्ञानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिद्वारा मोक्षो भवतीत्यर्थः । ततो मोक्षात् । ज्ञानेनात्मसाक्षात्कारेण मोक्ष इत्यन्ये ।

[5] अज्ञाननिमित्तोद्भवः स चैष बन्धः प्राकृतादिभेदेन त्रिविध इत्यग्रे वक्ष्यतीत्यर्थः । अत्र प्राचीनानां सम्मतिमाह–प्राकृतेनेति । आत्मबुद्धया प्रकृत्युपासननिबन्धनः प्राकृतः, आत्मबुद्धयेन्द्रियोपासननिबन्धनश्च वैकारिकः पुरुषमजानतः कामनया इष्टापूर्तकर्मानुष्ठाननिबन्धनस्तु दाक्षिणिक इत्येषां स्वरूपमन्यत्र द्रष्टव्यम् ।

अन्वयः—धर्मेण, ऊर्ध्वं, गमनम्, भवति, अधर्मेण, अधस्तात्, गमनम्, (भवति), ज्ञानेन, च, अपवर्गः, (भवति) विपर्ययात्, बन्धः, इष्यते ॥४४॥

व्याख्या—धर्मेण । ऊर्ध्वम् = उपरि विद्यमानेषु स्वर्गादिलोकेषु । गमनम् । भवति । अधर्मेण । अधस्तात् = अधोविद्यमानेषु पातालादिलोकेषु । गमनम् । (भवति) । ज्ञानेन = पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानेन । च । अपवर्गः = मोक्षः । (भवति)। विपर्ययात् = अज्ञानात् । बन्धः = सांसारिकविषयवासनाजन्यबन्धनम् । इष्यते = जीवस्येति शेषः ॥ ४४ ॥

हिन्दी—धर्मरूप भावपदार्थ से जीव का ऊपर के स्वर्ग आदि लोकों में गमन होता है । और अधर्म करने से यह जीव नीचे के लोकों में भ्रमण करता रहता है । ज्ञान से मोक्ष अर्थात् सांसारिक बन्धन से छुटकारा प्राप्त होता है, और ज्ञान के विपर्ययभूत अज्ञान से सांसारिक बन्धन की प्राप्ति जीव को होती रहती है ॥ ४४ ॥

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥४५॥

गौ०—तथाऽन्यदपि[1] निमित्तम्—यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति न तत्त्वज्ञानं तस्मादज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयो मृतोऽष्टासु प्रकृतिषु प्रधानबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेषु लीयते न मोक्षः[2] ततो भूयोऽपि संसरति[3] । तथा योऽयं राजसो रागः—यजामि दक्षिणां ददामि येनामुष्मिन् लोकेऽत्र यद्दिव्यं मानुषं सुखमनुभवाम्येतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति । यथा ऐश्वर्यादविघातः, एतदैश्वर्यमष्टगुणम् अणिमादियुक्तं[4] तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमित्तिको

---

[1] निमित्तनैमित्तिकेत्यत्रान्यदपि धर्मादिवत्तदुभयं प्रदर्शयन्नाह—तथेति ।

[2] तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्वा पुरुषज्ञस्यैव मोक्षवर्णनादन्यस्य तदभावकथनाज्ज्ञानरहितस्य विरक्तस्यापि न मोक्ष इत्याशयः ।

[3] दृष्टानुश्रविकविषयेष्वलंबुद्धिरूपाद्वैराग्यान्महदादिप्रकृतिपदवाच्येष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषु लयो भवति ततश्च कालान्तरेण पुनः संसरति सूक्ष्मशरीरमित्यर्थः ।

[4] अणिमा-महिमा-लघिमा-गरिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशित्व-वशित्वात्म-कमष्टविधमैश्वर्यमित्यर्थः, अस्य निमित्तस्य नैमित्तिकमाह—तस्मादिति ।

भवति ब्राह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं न विहन्यते। किञ्चान्यत् विपर्ययात् तद्विपर्यासः, तस्याविघातस्य विपर्यासो विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते।

अन्वयः—वैराग्यात्, प्रकृतिलयः, भवति, राजसात्, रागात्, संसारः, (भवति), ऐश्वर्यात्, अविघातः, (भवति), विपर्ययात्, तद्विपर्यासः (भवति)।

व्याख्या—वैराग्यात्=सांसारिकविषयेषु अनासक्तेः। प्रकृतिलयः=प्रकृति-महत्तत्त्व-अहङ्कारादिषु, लयः=सूक्ष्मशरीरेण सह प्रवेशः। अर्थात् किञ्चित्कालपर्यन्तं प्रकृतिमहत्तत्त्व-अहङ्कारादिषु प्रवेशं कृत्वा विश्रामञ्च लब्ध्वा पुनः स जननमरणादिरूपव्यवस्थया सम्पन्नो भवति न तु वास्तविकं मोक्षं प्राप्नोति इति भावः। राजसात्=रजोगुणकार्यात्, रागात्=अवैराग्यात्, अर्थात् सांसारिकविषयेषु प्रेमवशात्। (तस्य पुरुषस्य) संसारः=बारम्बारं जननमरणादिरूपः संसारः। (भवति) ऐश्वर्यात्=अणिमा-गरिमा-आदि-अष्टविधसिद्धिसामर्थ्यात्। अविघातः=इच्छाया गतेश्च प्रतिबन्धाभावः। स्वेच्छया सर्वत्र गमनम् अर्थात् अणिमादि-अष्टविधसिद्धि-सम्पन्नस्य पुरुषस्य सर्वत्रयोनौ सर्वेषु च लोकेषु गमनं भवितुमर्हतीत्यर्थः। विपर्ययात्=ऐश्वर्यविपर्ययात् अनैश्वर्यात्। तद्विपर्यासः—तस्य=स्वेच्छया सर्वत्र गमनस्य, विपर्यासः=वैपरीत्यम्। अर्थात् स्वातन्त्र्यस्य सर्वथा व्याघातो भवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

हिन्दी—अवशिष्ट चार भावपदार्थों में से वैराग्यसंज्ञक भावपदार्थ से प्रकृति में लय होता है, अर्थात् जो केवल वैराग्यसंपन्न पुरुष है और तत्त्व ज्ञान से विहीन है वह प्रकृति-महत्तत्त्व-अहङ्कार-पञ्चतन्मात्राओं में प्रवेश कर कुल काल तक के लिये वहीं विश्राम कर फिर वह जनन-मरण-जननीजठरशयन आदि के जाल में फँस जाता है जिससे कि वह वास्तविक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता है। और रजोगुण के कार्यभूत-सांसारिक प्रेमस्वरूप अवैराग्य से तो उसे हमेशा ही संसार में बना रहता है अर्थात् कभी भी वह विश्व के प्रपंच से छुटकारा प्राप्त कर विश्राम ही नहीं प्राप्त कर पाता है। ऐश्वर्य संज्ञक सप्तम भाव पदार्थ से इच्छा का और गमनागमन का कभी भी विघात नहीं हो पाता है। अर्थात् अणिमा आदि अष्टविधसिद्धिरूप ऐश्वर्य से संपन्न पुरुष अपनी इच्छा से स्वतन्त्र होकर सर्वत्र विचरण कर सकता है। उसे किसी भी योनि अथवा लोक में जाने की रुकावट नहीं होती है। और ऐश्वर्य के विपर्ययस्वरूप अनैश्वर्य से पहिले के विपरीत ही होता है अर्थात् सर्वत्र रुकावटें ही आती रहती हैं। अर्थात् पद-पद पर इच्छा का विघात एवं विघ्न-बाधाएँ ही उपस्थित होती रहती हैं ॥ ४५ ॥

अब प्रकृति के कार्यबुद्धि की सृष्टि का निरूपण करते हैं—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

गौ०—एवं निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः, स किमात्मक इत्याह—यथा एष षोडशविधो निमित्तनैमित्तिकभेदो[1] व्याख्यात **एष प्रत्ययसर्ग उच्यते**। प्रत्ययो[2] बुद्धिरित्युक्ता—**अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञान**मित्यादि च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते—**विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यभेदात्**। तत्र संशयोऽज्ञानं विपर्ययः[3]। यथा कस्यचित् स्थाणुदर्शने स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशयः। [4]अशक्तिर्यथा तमेव स्थाणुं सम्यग् दृष्ट्वा संशयं छेत्तुं न शक्नोतीत्यशक्तिः। एवं तृतीयस्तुष्ट्याख्यो यथा तमेव[5] स्थाणुं ज्ञातुं संशयितुं वा नेच्छति किमनेनास्माकमित्येषा तुष्टिः। चतुर्थः सिद्ध्याख्यो यथा आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमारूढां वल्लिं पश्यति शकुनिं वा तस्य सिद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति। एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य **गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत्** योऽयं सत्त्वरजस्तमोगुणानां वैषम्यं विमर्दः[6] तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति ॥ ४६ ॥

---

[1] बुद्धिधर्माधर्मादीनष्टौ भावान् समासव्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयान् दर्शयितुं प्रथमं तावत्समासमाहेति मिश्राः।

[2] प्रत्ययशब्दार्थमाह—प्रत्यय इति। प्रतीयन्ते विषया अनेनेति व्युत्पत्त्या प्रत्ययपदवाच्या बुद्धिरित्युक्ता, कुत्रेत्यत आह—अध्यवसाय इति। स चोक्तो धर्मादिषोडशगणो बुद्धिसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिभेदात्संक्षेपतश्चतुर्धेति भावः। एष गणो बुद्धिजन्यो बुद्धितत्त्वे प्रविष्टो न तत्त्वान्तरम्, कार्यकारणाभेदात्तस्य च पञ्चाशद्भेदा वक्ष्यन्त इति नारायणी।

[3] 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' इति योगसूत्रोक्तस्यातद्रूपप्रतिष्ठत्वस्य संशयेऽपि सत्त्वादतस्मिंस्तज्ज्ञानवत्संशयोऽपि विपर्यय इत्यर्थः। तत्र मिथ्याज्ञानस्य शुक्तिरूप्यादेः प्रसिद्धत्वात्संशयोदाहरणमाह—यथेति।

[4] इन्द्रियवैकल्येनेति शेषः, तथा च करणवैकल्यहेतुको बुद्धिधर्म एवाशक्तिरिति भावः।

[5] आध्यात्मिकयश्चतस्र इति वक्ष्यमाणतुष्टिसिद्धिभेदानां सामान्यतो लौकिकोदाहरणान्याह यथा तमेवेति।

[6] सत्त्वरजस्तमसां न्यूनाधिकभावरूपं यद्वैषम्यं स एव विमर्दस्तेन बुद्धिसर्गस्य

अन्वयः—एषः, प्रत्ययसर्गः, (संक्षेपात्) विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः, (चतुर्धा भवति) च, तस्य, गुणवैषम्यविमर्दात्, पञ्चाशत्, भेदाः, (भवन्ति)।

व्याख्या—एषः=पूर्वोक्तः धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यरूपोऽष्टविधो भावाख्यः। प्रत्ययसर्गः—प्रतीयन्ते=ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः तस्य सर्गः=बुद्धिसृष्टिरित्यर्थः। संक्षेपात् विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः—विपर्ययः=अज्ञानम्-मिथ्याज्ञानादिकमित्यर्थः। अशक्तिः=इन्द्रियादीनां वैकल्यम्, यथा—चक्षुषोऽन्धत्वम्, श्रोत्रस्य बाधिर्य्यम्, घ्राणस्य अजिघ्रत्वम् (सूंघने की शक्ति का अभाव,) त्वचः कुष्ठित्वम् (स्पर्शन शक्ति शून्य हो जाना), रसनस्य जडत्वम्, (रसज्ञानशून्यत्वम्) तुष्टिः=सांसारिकप्रसन्नता, सा च मोक्षविरोधिनी। सिद्धिः=ज्ञानसंपादिका। (एतदाख्यप्रत्ययसर्गः चतुर्धा भवति) ननु विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यस्य चतुर्विधसर्गस्य पञ्चाशद्भेदाः कथं जायन्ते इत्यत आह-गुणवैषम्यविमर्दात्=सत्त्व-रजस्तमोरूपगुणानां यद् वैषम्यं=न्यूनाधिकभावः, तज्जन्यो यो विमर्दः स्वस्वकार्यजननासामर्थ्यम्, तस्मादित्यर्थः। पञ्चाशत्। भेदः=प्रकाराः। भवन्तीति शेषः ॥ ४६ ॥

हिन्दी—यह बुद्धि की सृष्टि यद्यपि संक्षेप से चार प्रकार की है तथापि इस सृष्टि के गुणों के न्यूनाधिक होने के कारण परस्पर के इनके विमर्दन से पचास भेद हो जाते हैं। और पूर्वोक्त आठ भाव पदार्थों का भी इन्हीं में अर्थात् विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-सिद्धि इन्हीं चारों में अन्तर्भाव भी हो जाता है। जैसे अज्ञान का विपर्यय में, ज्ञान का सिद्धि में और धर्म-वैराग्य-ऐश्वर्य का तुष्टि में तथा अधर्म-अवैराग्य-अनैश्वर्य का अशक्ति में अन्तर्भाव है ॥ ४६ ॥

अब बुद्धि सृष्टि के पचास भेद बतलाते हैं—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

गौ०—तथा[1] क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति रजस्तमसी उदासीने, क्वापि

पञ्चाशद्भेदा भवन्तीत्यर्थः। गुणानां वैषम्यमेकैकस्याधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वा एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिमात्रतया यथाकार्यमुन्नीयेते तदिदं गुणानां वैषम्यम्, तेनोपमर्दः एकैकस्य न्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः, तस्मात्तस्य भेदाः पञ्चाशदिति मिश्राः।

[1] तमोमोहादिपञ्चविधविपर्ययादिभेदे पूर्वोक्तमेव गुणवैषम्यविमर्दरूपं

रजः क्वापि तम इति भेदाः कथ्यन्ते—**पञ्च विपर्ययभेदास्ते** यथा—तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति, एषां[1] भेदानां नानात्वं वक्ष्यतेऽनन्तरमेवेति। अशक्तेस्त्वष्टाविंशतिभेदा भवन्ति करणवैकल्यात् तानपि वक्ष्यामः[2] **तथा तुष्टिर्नवधा**—ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि। **तथाऽष्टविधा** सिद्धिः, सात्त्विकानि ज्ञानानि तत्रैवोर्ध्वस्रोतसि ॥ ४७ ॥

अन्वयः—विपर्ययभेदाः, पञ्च, भवन्ति, करणवैकल्यात्, अशक्तिश्च, अष्टाविंशतिभेदा, (भवति) तुष्टिः, नवधा, सिद्धिश्च, अष्टधा, (भवति)।

व्याख्या—विपर्ययभेदाः—विपर्ययस्य=मिथ्याज्ञानस्य, भेदाः=प्रकाराः। पञ्च। भवन्ति। यथा=तमो-मोह-महामोह-तामिस्र-अन्धतामिस्राश्च। योगदर्शनेऽपि एतान् "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः' इति रूपेण वर्णितवन्तः। करणवैकल्यात्—करणानाम् = पूर्वोक्त-एकादशेन्द्रियाणाम्, वैकल्यात्=अन्धत्व-बधिरत्वादिदोषात्। अशक्तिश्च अशक्तिपदार्थश्च। अष्टाविंशतिभेदा। (भवति) (ये च भेदा ४९ कारिकायां वक्ष्यमाणाः सन्ति) तुष्टिः=तुष्टिपदार्थश्च। नवधा=वक्ष्यमाणनवप्रकारा। सिद्धिः=सिद्धिपदार्थः। अष्टधा=वक्ष्यमाण-अष्ट-प्रकारा (भवति) तथा च विपर्ययस्य ५, अशक्तेः २८, तुष्टेः ९, सिद्धेः ८, भेदाः सन्ति। मिलित्वा च ५० भेदाः जायन्ते इति भावः।

हिन्दी—विपर्यय के ५ भेद हैं, एकादश इन्द्रिरूपकरणों के वैकल्य (अन्धत्व-बधिरत्व आदि) दोषों के कारण अशक्ति के २८ भेद हैं जिन्हें हम ४९ वीं

हेतुमुपलक्षयन्नाह—तथेति। कथ्यन्त इति। गुणवैषम्यहेतुकाः पञ्चाशत्संख्याका भेदा अवान्तरविभागेन गण्यन्त इत्यर्थः।

[1] एषामेव समानतन्त्रे योगदर्शने 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा' इति पञ्चविधविपर्ययसंज्ञा। तत्र अनित्याशुचि-दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या तमः। पुरुषबुद्ध्योरेकात्मतेवास्मितामोहः। सुखतृष्णा रागः 'महामोहः'। दुःखजिघांसा द्वेषो 'तामिस्रः'। सर्वस्य प्राणिनः स्वाभाविको मरणत्रासोऽभिनिवेशोऽ'न्धतामिस्र' इति मिश्राः। वक्ष्यते 'भेदस्तमस' इत्यग्रिमकारिकायाम्।

[2] एकादशानामिन्द्रियाह्वकरणानां वैकल्यात् कुण्ठितत्वात् स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्यात एकादश, बुद्धिगतानां नवतुष्टीनां विपर्यया नव, अष्टसिद्धीनां च अष्टाविति मिलित्वाऽष्टाविंशतिभेदाऽशक्तिरिति 'एकादशेन्द्रियवधा' इत्यत्र वक्ष्याम इति भावः।

कारिका में कहेंगे। और तुष्टि के ९, तथा सिद्धि के आठ भेद हैं जो कि वक्ष्यमाण हैं ।। ४७ ।।

विपर्यय के जो तम-मोह-महामोह इत्यादिरूप से ५ भेद बतलाये के अब उनके अवान्तर भेद बतलाते हैं—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

गौ०—एतत्[1] क्रमेणैव वक्ष्यते, तत्र विपर्ययभेदा उच्यते—**तमसस्तदष्टधा** भेदः [2]प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते—सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयन्ते प्रधानबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्राख्यासु, तत्र लीनमात्मानं मन्यते मुक्तोऽहमिति तमोभेदः एषः। अष्टविधस्य[3] मोहस्य भेदोऽष्टविध एवेत्यर्थः, यत्राष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं तत्र सङ्गादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरन्त्येषोऽष्टविधो मोह इति। **दशविधो महामोहः**, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येत एव शब्दादयः पञ्च विषयाः, एवमेतेषु दशसु महामोह[4] इति। **तामिस्रोऽष्टादशधा**–अष्टविधमैश्वर्यं[5] दृष्टानुश्रविका विषया दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति विपदं नानुमोदन्ते, एषोऽष्टादशविधो विकल्पस्तामिस्रः। यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रिविका दश विषयास्तथान्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव, किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव म्रियते-

---

१. उद्दिष्टं बुद्धिभेदानां पञ्चाशत्संख्यावत्वम् ।

२. तमःशब्दार्थमाह—प्रलय इति । विभज्यते—अज्ञानम्, प्रलयशब्दार्थो विविच्यते। स इति। प्रकृत्यांद्यष्टसु लयमात्रेणात्मानं येन मुक्तं जानामि स एषोऽज्ञानमूलकः प्रलयोऽष्टविधविषयत्वादष्टविधो तमोभेद इति भावः।

३. अष्टविधविषयस्य। कथमष्टविधत्वन्तदाह—यत्रेति।

४. दिव्यादिव्यतया दशविधरञ्जनीयशब्दादि-विषयकत्वेन दशविधो महामोह इत्यर्थः।

५. तामिस्रस्याष्टादशत्वं कथन्तत्राहाष्टविधमिति। स्वरूपत उपायतया चानभिभूताः शब्दादयोऽणिमादयश्चाष्टादशरागजनकाः, देवैरुपहन्यमानाश्च द्वेषविषया भवन्तीत्यष्टादशविषयत्वात्तामिस्रोऽष्टादशविध इत्यर्थः। विषया इति। इत्यष्टादश विषयस्तामिस्रस्तथाऽन्धतामिस्रोऽपि मरणदैवतोपघातादिभयजनितदुःखात्मकोऽष्टादशविध एवेत्यर्थः। इममेव विशेषमाह–किन्त्वित्यादिना।

ऽष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते सोऽन्धतामिस्र इति । एवं विपर्ययभेदास्तमःप्रभृतयः पञ्च प्रत्येकं भिद्यमाना द्विषष्टिभेदाः संवृत्ता इति ।।

व्याख्या—तमसः=अविद्यायाः । अयं भावः—प्रकृति-महत्तत्त्व-अहङ्कार-पञ्च-तन्मात्रेषु अनात्मसु आत्मबुद्धिरेव अविद्या सैव तमःशब्देन कथ्यते, सा चाऽविद्या अष्टविधा, तथाहि—आत्मा प्रकृत्याऽभिन्नः, आत्मा महत्तत्त्वाभिन्नः, आत्मा अहंकाराभिन्नः, आत्मा शब्दतन्मात्राभिन्नः, आत्मा स्पर्शतन्मात्राभिन्नः, आत्मा रूपतन्मात्राभिन्नः, आत्मा रसतन्मात्राभिन्नः, आत्मा गन्धतन्मात्राभिन्नः । तादृशात्मबुद्धेः प्रकृत्यादिगन्धतन्मात्रपर्यन्त-अष्टविधपदार्थविषयत्वात्तमोऽष्टविधम् । (मोहस्य च=अस्मितायाश्च अष्टविधो भेदः । अयं भावः—तपोबलेन देवादीनामष्टविध-ऐश्वर्यशालित्वात् मोहस्वरूपाया अस्मिताया अष्टौ भेदा भवन्ति, तथाहि—अणिमात्मक-ऐश्वर्यवानहम्, गरिमात्मक-ऐश्वर्यवानहम्, लघिमात्मक-ऐश्वर्यवाहनम्, महिमात्मक-ऐश्वर्यवानहम्, प्राप्तिरूप-ऐश्वर्यवानहम्, प्राकाम्यरूप-ऐश्वर्यवानहम्, वशित्वरूप-ऐश्वर्यवानहम्, ईशित्वरूप-ऐश्वर्यवानहम् ।

महामोहः=रागः । दशविधः । अयमाशयः—शब्दादयः पञ्च ये च पञ्चतन्मात्राशब्देनोच्यन्ते ते दिव्यादिव्यभेदेन दशविधा जायन्ते, तत्र ये शब्दादयो देवानां सुखजनकरागभूताः सन्ति ते दिव्याः, ये चाऽस्माकं सुखजनकरागभूतास्तेऽदिव्याः सन्ति ।

तामिस्रः=द्वेषः । अष्टादशधाः । अयमाशयः—शब्दादयः पञ्च दिव्याः—पञ्च अदिव्याः पूर्वोक्ता वेदितव्याः, एवं च मिलित्वा दशविधा भवन्ति । एवं तादृशशब्दादिसाधनभूतम् अणिमादिरूपमैश्वर्यमपि अष्टविधं पूर्वोक्तं वेदितव्यम् ।

अन्धतामिस्रः=अभिनिवेशः । (अपि) तथा=अष्टादशधा । भवति । अयमाशयः—सत्त्वगुणबहुला हि देवादिप्रभृतयः प्राणिनोऽणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यं प्राप्य शब्दादिदशविधविषयान् भुञ्जते । एवञ्च मिलित्वा विपर्ययस्य द्विषष्टिभेदाः जायन्ते । यथा तमसो मोहस्य च प्रत्येकस्य अष्टौ भेदा वर्त्तन्ते, महामोहस्य दशभेदाः, तामिस्रस्य अष्टादशभेदाः, अष्टादश एव भेदाः सन्ति अन्धतामिस्रस्य ।

हिन्दी—अनात्मभूतपदार्थों में आत्मबुद्धि करना ही तम (अविद्या) कहलाता है । जैसे—आत्मा की प्रकृति से, महत्तत्त्व से, अहंकार से, शब्दतन्मात्रा से, स्पर्शतन्मात्रा से, रूपतन्मात्रा से, रसतन्मात्रा से तथा गन्धतन्मात्रा से अभिन्न समझना ही तम है । इस प्रकार वह तम प्रकृतितत्त्व से लेकर गन्धतन्मात्रापर्यन्त आठ पदार्थों को विषय करने के नाते आठ प्रकार का हो जाता है ।

मोह—इसी प्रकार मोह भी आठ प्रकार का है। देवता लोग अणिमा-गरिमा-लघिमा-महिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-वशित्व-ईशित्व रूप आठ प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करके "हम सिद्ध है" "हम अजर-अमर हैं" इस प्रकार के अभिमान-जन्य मोह के वशीभूत होकर उन सिद्धियों को स्थायी समझ लेते हैं। इस दृष्टि से वह मोह भी अणिमा से लेकर ईशित्वपर्यन्त अष्टविध सिद्धियों को विषय करने के नाते आठ प्रकार का हो जाता है।

महामोह—इसे राग, प्रेम आदि शब्दों से भी कहते हैं, यह दस प्रकार का है। शब्द प्रभृति पञ्चतन्मात्राएँ दिव्य और अदिव्य भेद से दशविध हैं। देवता लोग स्वर्ग में जिन शब्दादिकों का व्यवहार करते हैं वे दिव्य हैं और हमलोग जिनका व्यवहार करते हैं वे अदिव्य है सो उन शब्दादि पंचतन्मात्राओं में से जो शब्दादि देवताओं के लिये सुख के कारणीभूत रागस्वरूप हैं वे दिव्य हैं, और जो हमारे सुख के कारण हैं वे अदिव्य हैं।

तामिस्र—इसे द्वेष भी कहते हैं, यह १८ प्रकार का होता है। दिव्यादिव्य भेद से दशविध शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ तथा इनका साधनीभूत अणिमादि रूप अष्टविध ऐश्वर्य इन दोनों को मिलाकर १८ भेद होते हैं।

अन्धतामिस्र—इसे अभिनिवेश अथवा भय भी कहते हैं। यह भी पूर्वोक्त दशविध शब्दादितन्मात्राएँ तथा अष्टविध ऐश्वर्य के भेद से १८ प्रकार का होता है॥ ४८॥

अशक्ति के २८ भेदों को बतलाते हैं—

एकादशेन्द्रियबधाः सह बुद्धिबधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश बधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्॥४९॥

गौ०—अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते—'**भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टाविंशतिभेदा**' इत्युद्दिष्टम्, **तत्रैकादशेन्द्रियवधाः**[1]—बाधिर्यमन्धता प्रसुप्तिरुपजिह्विका घ्राणपाको मूकता कुणित्वं खाञ्ज्यं गुदावर्त्तः क्लैब्यमुन्माद इति। **सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा,** ये बुद्धिवधास्तैः सहाशक्तेरष्टाविंशतिभेदा

---

[1] वाधिर्यमिति। बधिरभावः कर्णशक्तिनाश इत्यर्थः, अन्धता नेत्रशक्तिविनाशः, प्रसुप्तिः त्वक्शक्तिशून्यता, उपजिह्विका रसनाशक्तिहीनता, घ्राणपाकोऽजिघ्रता घ्राणशक्तिनाशः, मूकता वागिन्द्रियशक्तिविरहः, कुणिता कौण्यम् कुणोऽस्यास्तीति कुणी तस्य भावः कौण्यम् करशक्त्यभावः, खाञ्ज्यं

भवन्ति। **सप्तदश वधा बुद्धेः**, सप्तदश[१] वधास्ते तुष्टिभेदसिद्धिभेदवैपरीत्येन, तुष्टिभेदा नव सिद्धिभेदा अष्टौ ये तद्विपरीतैः सह एकादशविधा, एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॥ ४९ ॥

अन्वयः—एकादश, इन्द्रियबधाः, (सप्तदशसंख्याकैः) बुद्धिबधैः, सह, (मिलित्वा) अशक्तिः, (अष्टाविंशतिधा) उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनाम्, विपर्ययान्, बुद्धेः, बधाः, सप्तदश, (भवन्ति) ॥ ४९ ॥

व्याख्या—एकादश। इन्द्रियबधाः—इन्द्रियाणाम्=चक्षुः-श्रोत्र-त्वक्-रसन-घ्राण-वाक्-पाणि पाद-पायु-उपस्थ-मनसाम्। बधाः=दोषाः। यथा चक्षुषोऽन्धत्वम्, श्रोत्रस्य बधिरत्वम्, घ्राणस्य अजिघ्रत्वम्, त्वचः कुष्ठित्वम्, रसनस्य जडत्वम्, वाचोऽवक्तृत्वम्, करयोः (हस्तयोः) करशक्त्यभावः (लूलापन), पादयोर्गमनादिशक्तेरभावः (लंगड़ापन), पायोः उदावर्त्तः, उपस्थस्य नपुंसकत्वम्. इत्यादि। (सप्तदशसंख्याकैः) बुद्धिबधैः—तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययस्वरूपैः बुद्धिदोषैः। सह (मिलित्वा) अशक्तिः=अशक्तिपदार्थः। (अष्टाविंशतिधा) उद्दिष्टा=कथिता। तुष्टिसिद्धीनाम्। विपर्ययात्=वैपरीत्यात्। अर्थात्, प्रकृति-उपादान-काल-भाग्य-शब्दोपरम-स्पर्शोपरम-रूपोपरम-रसोपरम-गन्धोपरमनाम्नीनां नवतुष्टीनां बधा अपि नवैव भवन्ति। यथा—अप्रकृतिः-अनुपादाना-अकाला-अभाग्या-शब्दानुपरमा-स्पर्शानुपरमा-रूपानुपरमा-रसानुपरमा-गन्धानुपरमाश्च। एवं ऊह-शब्द अध्ययन-आध्यात्मिकदुःखाभाव-आधिभौतिकदुःखाभाव-आधिदैविक-दुःखाभावरूप-दुःखविघातत्रय-सुहृत्प्राप्ति-दान-स्वरूप-अष्टसिद्धीनां बधा अपि अष्टौ एव भवन्ति। यथा— अनूह-अशब्द-अनध्ययन-आध्यात्मिकदुःख-आधिभौतिकदुःख-आधिदैविकदुःख-सुहृत्प्राप्त्यभाव-दानाभावाश्च। एवं च सर्वं मिलित्वा तुष्टिसिद्धीनां सप्तदशबधा जायन्ते, ११ बधाश्च इन्द्रियाणाम्, एवं क्रमेण अष्टाविंशतिभेदा अशक्तिर्भवति ॥ ४९ ॥

हिन्दी—चक्षु आदि ११ इन्द्रियों के बध (कुण्ठितत्व) भी ११ ही हैं, जैसे चक्षु का अन्धत्व, श्रोत्र का बधिरत्व, त्वचा का कुष्ठित्व (कोढ़ हो जाना), रसना का जडत्व (जिह्वाशक्ति का विनाश) घ्राणका अजिघ्रत्व, वाणी का

पङ्गुत्वं पादशक्त्यभावः गुदावर्तः पायुशक्त्यभावो उदावर्तापरपर्यायः, क्लैब्यं षण्ढता रतिशक्तिविरहः, उन्मादः मनसः सङ्कल्पशक्त्यभाव इत्येते बुद्धिवधहेतुकत्वेन निर्दिष्टा एकादशेन्द्रियवधा इत्यर्थः।

[१] स्वरूपतो बुद्धिवधाः कतीत्यत आह—सप्तदशेति। कुत इत्यत आह—तुष्टीति।

अवक्तृत्व, हाथों का लूलापन, पैरों का पङ्गुत्व, पायु का टट्टी न होना, उपस्थ का नपुंसकता, मन का स्मरणशक्ति का नाश हो जाना। इन्हीं ११ इन्द्रियों के बधों को बुद्धिबधों के साथ मिलाकर अशक्ति कहा है। अब प्रश्न यह होता है। कि वे बुद्धिबध कितने हैं और कौन-कौन से हैं? इसका उत्तर कारिका में दिया कि नौ प्रकार की तुष्टियों और आठ प्रकार की सिद्धियों के विपर्यय से १७ प्रकार भेद बुद्धिबधों के माने हैं। इस प्रकार ११ इन्द्रियबध और १७ बुद्धिबधों को मिलाकर अट्ठाइस २८ भेद अशक्ति के हो जाते हैं। अशक्ति के हो जाते हैं। अब रहा प्रश्न यह कि वे ९ प्रकार की तुष्टियाँ तथा ८ प्रकार की सिद्धियाँ कौन-कौन हैं इस प्रश्न का उत्तर हम क्रमशः ५० और ५१ वीं कारिकाओं के आधार पर देंगे ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्त नौ प्रकार की तुष्टियों को बतलाते हैं—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

गौ०—विपर्ययात्[1], तुष्टिसिद्धीनामेव भेदक्रमो द्रष्टव्यः, तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते—**आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः**, आध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः[2] ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः। तत्र **प्रकृत्याख्या यथा** कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति तस्याः सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्वं तत् कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्षं एषा प्रकृत्याख्या[3]। **उपादानाख्या यथा** कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वान्युपादानग्रहणं करोति त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या[4]। **तथा कालाख्या**—

---

[1] विपर्ययादिति। यतो विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनां सप्तदश बुद्धिवधा भवन्त्यतस्तेषामेव क्रमो वर्णनीयः प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्त्वाद्विरोधिज्ञानस्येति भावः।

[2] प्रकृत्याद्यतिरिक्तमात्मानं ज्ञात्वाप्यसदुपदेशेन यो नात्मश्रवणादौ प्रयतते तस्यात्मविषयिण्यस्तुष्टयश्चतस्र आध्यात्मिक्यो भवन्तीत्यर्थः।

[3] विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदस्तं च सैव करोति कृतमात्मध्यानाभ्यासेनेति कस्यचिदुपदेशेन तुष्टिः प्रकृत्याख्येति मिश्राः।

[4] प्राकृत्यपि विवेकख्यातिर्न प्रकृतिमात्राज्जायते सर्वेषां सर्वदा प्रकृतेरविशेषात्तदुत्पादप्रसङ्गात्, किन्तु प्रव्रज्ययाऽतस्तामुपाददीथाः कृतं ध्यानादिनेति उपदेशेन या तुष्टिः सोपादानाख्येति वाचस्पतिमिश्राः।

कालेन मोक्षो भविष्यतीति किं तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति । तथा भाग्याख्या—भाग्येनैव मोक्षो भविष्यतीति भाग्याख्या[1], चतुर्द्धा तुष्टिरिति । बाह्या विषयोपरमात्पञ्च । बाह्यास्तुष्टयः पञ्च विषयोपरमात्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य[2] उपरतोऽर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनात् । वृद्धिनिमित्तं पाशुपाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्या एतदर्जने दुःखम्, अर्जितानां रक्षणे दुःखम्, उपभोगात् क्षीयत इति क्षयदुःखम्, तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः, तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोग इत्येष हिंसादोषः, एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदान्नव तुष्टयः, तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—

अम्भः[3] सलिलं मेघो वृष्टिः सुतमः पारसुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम्' इति । आसां तुष्टीनां विपरीता अशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति । तद्यथा—अनम्भोऽसलिलमेघ इत्यादि-वैपरीत्याद् बुद्धिवधा इति ॥ ५० ॥

अन्वयः—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः, चतस्रः, आध्यात्मिक्याः, तुष्टयः,

---

[1] अत एव मदालसायास्तत्त्वज्ञानवत्या वर्षाभ्यन्तरायुष्काणि अपत्यानि 'त्वं शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि मा रुदिहि दुःखं नात्मधर्मं' इत्याद्युपदेशेन प्राग्भवीयभाग्यवशादेव विवेकख्यातिमन्ति मुक्तानि बभूवुरिति, भाग्याख्येयं तुष्टिरित्यर्थः ।

[2] विषयोपरम एव कथमत आह—शब्देति । अर्जनादिदुःखदर्शनाद्यदा शब्दादिभ्य उपरतो भवति तदा बाह्यास्तुष्टयः पञ्चविधविषयविषयकत्वात्पञ्चैवेत्यर्थः । अर्जनादिदुःखमेव विवृणोति—वृद्धिनिमित्तमिति ।

[3] उक्तविधनवतुष्टीनां योगदर्शनोक्तानि संज्ञान्तराण्याहाम्भ इति । संसारमज्जनहेतुत्वसादृश्यात्प्रकृतितुष्टेरम्भ इति, संसरणनिमित्तत्वादुपादानतुष्टेः सलिलमिति, कालप्रतीक्षाया उत्तापकत्वात्कालतुष्टेर्मेघ इति, अकस्मात् विवेकख्यातिसेचनाद्भाग्याख्या तुष्टिर्वृष्टिरित्येवमाध्यात्मिकीनां तुष्टीनां संज्ञाः । एवमर्जनदुःखस्यात्यन्तं भयावहत्वात्सुतम इति, रक्षणकाले भोगाभिलाषपूर्त्या तद्दुःखस्य पारगमनसम्भवाद् द्वितीया पारमिति एवं क्षयदोषदर्शनादप्रवृत्तौ दुःखपारगमनात्तृतीया सुनेत्रमिति, सङ्गदोषं भावयतो नास्त्यरिरिति चतुर्थी नारीकमिति, तथा हिंसादोषदर्शनान्नास्ति अन्यत् जलवत् कारुण्योत्पादकमिति पञ्चम्यनुत्तमाम्भसिकमित्येवं बाह्यास्तुष्टयो वैराग्ये सति जायन्ते इति वैराग्यहेतुपञ्चत्वात्पञ्चेति भावः । एताश्च पारं सुपारं पारापारमनुत्तमाम्भः उत्तमाम्भ इति संज्ञापञ्चकेन मिश्रैः प्रोक्ताः, एतेषां युक्तायुक्तत्वे सुधीभिः स्वयं विभावनीये ।

(सन्ति), विषयोपरमात्, पञ्च, बाह्याः, तुष्टयः, (सन्ति मिलित्वा) नव तुष्टयः, अभिमताः, (सांख्याचार्याणाम्)।

व्याख्या—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः = प्रकृतिः–उपादानम्–कालः–भाग्यम् इति आख्या=नाम, यासां ताः। चतस्रः। आध्यात्मिक्यः = आत्मत्वेनाभिमताः। तुष्टयः = सन्तोषाः। (सन्ति) विषयोपरमात् = विषयेभ्यो दोषदर्शननिबन्धननिवृत्तिदर्शनात् पञ्च। बाह्याः = शब्दादिबाह्यविषयिण्यः। तुष्टयः। सन्ति। (एवं मिलित्वा) नव। तुष्टयः। अभिमताः। (सन्ति सांख्याचार्याणाम्)।

हिन्दी—प्रकृति-उपादान-काल-भाग्य वे चार अन्दर की इन्द्रिय मन को सन्तुष्ट करने वाली तुष्टियाँ हैं। बाह्यविषयों में दोषदर्शनप्रयुक्त उनसे निवृत्ति हो जाने के अनन्तर मन को जो शब्दादि पाँच विषयों द्वारा सन्तोष होता है उन बाह्यविषयों के पाँच होने के नाते पाँच बाह्य तुष्टियाँ हैं। इसी दृष्टि से ९ तुष्टियाँ सांख्यवालों ने मानी हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि इन प्रकृति आदि नौ प्रकार की आध्यात्मिक तथा बाह्य तुष्टियों से मन का सन्तोष अथवा प्रसन्नता कैसे होती है ?

इसका उत्तर यही दिया गया कि कोई गुरु अपने शिष्य को यदि यह उपदेश करता है कि हे वत्स ! मोक्ष को सम्पन्न करने वाला विवेकज्ञान प्रकृति का ही परिणामविशेष है, क्योंकि वह प्रकृति से ही होता है अतः उस विवेकज्ञान के लिये आत्मा के श्रवण-मनन आदि व्यर्थ हैं इस प्रकार के उपदेश को हृदयंगम कर श्रवण आदि का सर्वथा परित्याग करके जो प्रकृति से ही अपने मन का सन्तोष करना है उसे प्रकृतितुष्टि कहते हैं। इसी को 'अंभ' भी कहते हैं।

और यदि दूसरा गुरु अपने शिष्य को यह उपदेश करता है कि हे शिष्य ! बिना संन्यास के मोक्ष नहीं होता है अतः श्रवण-मनन आदि के प्रपंच को छोड़कर संन्यास ग्रहण करो, इस प्रकार के उपदेश से संन्यास के आधार पर होने वाली मन की सन्तुष्टि को "उपादान तुष्टि" कहते हैं, इसी का दूसरा नाम 'सलिल' भी है। - उप = वृद्धावस्थायाः समीपे, आदीयते इति उपादानम् अर्थात् वृद्धावस्था के नजदीक आ जाने पर जिस धर्म का ग्रहण किया जाय उसी संन्यासधर्म को उपादान कहते हैं।

संन्यास भी युक्तिप्रद नहीं है अपितु कालसापेक्ष है अतः कालपरिपाकवशात्

वह खुद ही हो जायेगा, इस प्रकार के उपदेश से काल के आधार पर होने वाली मनःसन्तुष्टि को "कालतुष्टि" कहा गया है। इसे 'ओघ' भी कहते हैं।

प्रकृति से—उपादान से—काल से विवेकज्ञानद्वारा मोक्षप्राप्ति होने वाली नहीं है अपितु वह भाग्य के अनुकूल होने पर स्वयं ही हो जायेगी। जैसे मदालसा के लड़कों को अत्यन्त बालक होते हुए भी माता के उपदेशमात्र से भाग्यानुकूल होने से विवेकज्ञान हुआ और उससे मोक्ष हुआ।

और शव्दादि पाँच बाह्य तुष्टियाँ सांसारिकविषयों में वैराग्य उत्पन्न होने के पश्चात् ही होती हैं। वैराग्य के पाँच प्रकार का होने के नाते बाह्य तुष्टियाँ भी पाँच प्रकार की हैं। कारिका में वैराग्य को विषयोपरमशव्द से कहा है। शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय हैं, और इनसे उपरम होना भी पाँच प्रकार का है—अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग, हिंसा। इन पाँच प्रकार के दोषों का दर्शन जव विषयों में हो जाता है तब विषयों से मनुष्य की निवृत्ति हो जाती है।

सेवा, वाणिज्य आदि धर्म परमगहन हैं परन्तु इनके बिना धनोपार्जन आदि कार्य भी नहीं हो पाते हैं। मालिक लोग जव कि अपने सेवकों को गले में हाथ देकर वाहर निकाल देते हैं तव कौन सेवक सेवा करने में प्रवृत्त होगा। अतः धनोपार्जन के इन उपायों को दुःखद समझ कर विचारशील व्यक्ति इनसे सर्वथा विरक्त हो वैठता है। इसके पश्चात् मन में जो तुष्टि होती है उसे 'पार' कहते हैं।

धनोपार्जन कर लेने पर भी चोर-डाकू वगैरह से उस अर्जित धन की रक्षा करने में होने वाले कष्ट के अनुभव को देखते हुए उसमें भी दोषदर्शन होता है। उस दोषदर्शन से फिर विषयों में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उस वैराग्य से जो मन में सन्तोष (तुष्टि) होती है उसे 'सुपार' कहते हैं।

किसी प्रकार उस धन की रक्षा भी की जाय परन्तु फिर भी उपभोग में आने से उस धन की समाप्तिप्रयुक्त बहुत ही कष्ट होता है। इससे भी विचारशील व्यक्ति के मन में उसकी नश्वरता को देखते हुए वैराग्य हो जाता है। इस प्रकार के वैराग्य से होने वाली मन की तुष्टि को 'पारापार' कहते हैं।

एवं विषयों के उपभोग से उनमें उत्तरोत्तर इच्छा ही तो बढ़ती रहती है। और उन विषयों के किसी समय न मिलने से भी बहुत कष्ट होता है। उस कष्ट से भी दोषदर्शनप्रयुक्त विचारशीलव्यक्ति के मन में वैराग्य उत्पन्न हो

जाता है, उस वैराग्य से उत्पन्न होने वाले मन के सन्तोष को 'अनुत्तमाम्भ' तुष्टि कहते हैं।

इसी प्रकार कभी-कभी विषयों के उपभोग के लिये मनुष्य को प्राणियों की हिंसा भी करनी पड़ जाती है, उस हिंसात्मकदोषदर्शनप्रयुक्त भी विचारशील व्यक्ति के मन में वैराग्य पैदा हो जाता है। इस वैराग्य के आधार पर होने वाले सन्तोष को 'उत्तमाम्भ' नामक पञ्चम तुष्टि कहते हैं॥ ५०॥

अब आठ ८ प्रकार की सिद्धियों को बतलाते हैं—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविधातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥५१॥

गौ०—सिद्धिरुच्यते—ऊहो यथा कश्चिन्नित्यमूहते किमिह सत्यं किं परं किं नैःश्रेयसं किं कृत्वा कृतार्थः स्याम, इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते प्रधानादन्य एव पुरुष इतोऽन्या बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीत्येकं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते येन मोक्षो भवति, एषा [1]ऊहाख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा **शब्दज्ञानात्** प्रधानपुरुषबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या सिद्धिः[2]। **अध्ययनाद्** वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्यते मोक्षं याति, इत्येषा तृतीया सिद्धिः[3]। **दुःखविधातत्रयम्**, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत् उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः। एषैव दुःखत्रयभेदात् त्रिधा कल्पनीया इति षट् सिद्धयः[4]। तथा **सुहृत्प्राप्तिः**, यथा कश्चित्

---

[1] ऊहस्तर्कः आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणम्, परीक्षणं च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनं यन्मननमाचक्षते आगमिन इति मिश्राः। अस्याश्च तन्मते तारतारमिति संज्ञेतन्मते तु तारमिति विशेषः।

[2] अध्ययनकार्यशब्दजन्यार्थज्ञानरूपेयं 'सुतारम्' इति मिश्रमतेऽपि व्यपदिस्यत इति न कश्चिद्विशेषः।

[3] गुरुमुखात् अध्यात्मविद्यामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं 'तार'मिति संज्ञया व्यपदिष्टा मिश्रमते प्रथमा सिद्धिरियं बोद्धव्या।

[4] एता मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः, तदुपायतया त्वितरा गौण्यः पञ्च सिद्धयस्ता अपि हेतुहेतुमत्तया व्यवस्थिताः, तत्राध्ययनरूपा सिद्धिर्हेतुरेव मुख्यास्तु हेतुमत्य एव, मध्यमा ऊहशब्दसुहृत्प्राप्तिदानाख्या हेतुहेतुमत्य इति तत्त्वकौमुदी।

सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति, एषा सप्तमी सिद्धिः[1]। **दानं यथा** कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौषधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां ग्रासाच्छादनादीनां च दानेनोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति, एषाऽष्टमी सिद्धिः[2]। आसामष्टानां सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः—'तारं सुतारं तारतारं प्रमोदं प्रमुदितं प्रमोदमानं रम्यकं सदाप्रमुदितम्' इति। 'आसां विपर्ययाद् बुद्धेर्वधा ये विपरीतास्ते अशक्तौ निक्षिप्ताः—यथाऽतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम्। अशक्तिभेदा[3] अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवधैरेकादशेन्द्रियवधा इति। तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धीनां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो निर्देशश्च[4] कृत इति। किञ्चान्यत् **सिद्धे**[5] **पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः**, सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाशक्तितुष्टयस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदादेव त्रिविधः, यथा हस्ती गृहीताङ्कुशेन वशो भवति, विपर्ययाशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तस्मान्मोक्ष इति ॥ ५१ ॥

अन्वयः—ऊहः, शब्दः, अध्ययनं, त्रयः दुःखविघाताः, सुहृत्प्राप्तिः दानं च (इति) अष्टौ सिद्धयः। सिद्धेः पूर्वः अङ्कुशः त्रिविधः।

व्याख्या—अध्ययनम् = आत्मज्ञानम्, अर्थात् शास्त्रीयविधिविधानपूर्वकमाध्यात्मिकविद्यानां गुरुमुखात् अध्ययनमित्यर्थः। इयं प्रथमा सिद्धि"स्तार"-

---

[1] न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धत्ते न यावद्गुरुशिष्यब्रह्मचारिभिः सह संवाद्यतेऽतः सुहृदामुक्तसंवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिश्चतुर्थी सिद्धिः रम्यकमिति मिश्रतम्।

[2] दैप् शोधन इत्यस्माद्धातोर्दानपदव्युत्पत्तेः, सदाप्रमुदितनाम्ना व्यपदिष्टेयं पञ्चमी सिद्धिर्मिश्रैः।

[3] प्रदर्शिततुष्टिसिद्धिविपर्ययाशक्तिभेदसंख्यपूरकत्वं प्रदर्शयन्नष्टाविंशतिसंख्या सङ्कलयति—अशक्तीति।

[4] नाममात्रेण सङ्कीर्तनमुद्देशः, लक्षणपूर्वकं नामकीर्तनं च निर्देश इति।

[5] अत्र समासेन चतुर्विधे बुद्धिसर्गे सिद्धिरुपादेया तन्निवारिका विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्याह—सिद्धेरिति। पूर्व इति विपर्ययादित्रयग्रहणम्। ताः सिद्धिकरिणीनामङ्कुशो निवारकत्वात्, अतः सिद्धपरिपन्थित्वाद्विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इति मिश्राः। तद्भेदादेव विपर्ययादिभेदाभावः, अङ्कुशोऽपि त्रिविध इत्यर्थः।

मित्युच्यते । शब्दः=लक्षणया शब्दजन्यमर्थज्ञानमित्यर्थः । इयं द्वितीया सिद्धिः सुतारमित्युच्यते । ऊहः=आगमाविरोधिन्यायेन आगमजन्य अर्थपरीक्षम्, परीक्षणञ्च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेन उत्तरपक्षव्यवस्थापनम् । इयं तृतीया सिद्धिस्तारतारमित्युच्यते । सुहृत्प्राप्तिः—सुहृदाम्=गुरुशिष्यब्रह्मचारिणां, प्राप्तिः=लाभः । अर्थात् स्वयं परीक्षितस्यापि अर्थस्य तावन्न निर्दुष्टत्वप्रकारको निश्चयो भवति यावत् गुरुशिष्यसतीर्थैः सह न संवाद्यते इतीयं सिद्धिः "रम्यकम्" उच्यते । दानम्=संशयविपर्यय-आदिदोषाणां निराकरणेन विवेकज्ञानशुद्धिः, सा च शुद्धिः बहुकालपर्यन्तम् अभ्यासपरिपाकेन विना न भवतीति सेयं सिद्धिः सदामुदितमित्युच्यते । त्रयः दुःखविधाताः=आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-पूर्वोक्तदुःखध्वंसाः । इमा एव तिस्रो मुख्याः सिद्धयः सन्ति, एताश्च क्रमशः प्रमोदमुदितमोदमाना उच्यन्ते । आसाम् अष्टानां सिद्धीनां प्रतिबन्धकीभूता विपर्ययाशक्तितुष्टयः सर्वथा परित्याज्या भवन्तीत्याह—"सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः" । सिद्धेः=अष्टविधायाः सिद्धेः । पूर्वः=पूर्वोक्तः । त्रिविधः=विपर्ययाशक्तितुष्टिस्वरूपः त्रिप्रकारः । अङ्कुशः-अङ्कुश इव सिद्धेः प्रतिबन्धकः । यथा अङ्कुशेन शासितोऽश्वादिर्वश्यो भवति तथा विपर्ययाशक्तितुष्टिभिः सिद्धेः प्रतिरोधो जायते लोकश्च संसारचक्रे नितरां सुतरां भ्रमति । सिद्धिप्रतिबन्धकत्वात् विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेयाः सिद्धिश्चोपादेया भवति मुमुक्षूणाम् । यतोऽष्टाभ्य एव सिद्धिभ्यो विवेकज्ञानं भवति, तस्माच्च मुक्तिर्जायते इति भावः ।

हिन्दी—ऊह, शब्द, अध्ययन तथा आध्यात्मिक प्रभृति दुःखत्रय के तीन प्रकार के विघात, सुहृत् प्राप्ति एवं दान ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ हैं । जिनमें तीन प्रकार की दुःखविघातात्मक सिद्धियाँ मुख्य हैं और इतर पाँच इन तीन सिद्धियों की साधनभूत होने के नाते गौण हैं ।

बिना उपदेश के अर्थात् पूर्वजन्म से आधार पर ही तर्कबल से शास्त्रों के अर्थ का निश्चय करना रूप सिद्धि को ऊह कहते हैं । इसी का दूसरा नाम 'तारतार' भी है ।

शास्त्र श्रवण करने के पश्चात् क्रिया-कारक आदि शब्दों के आधार पर होने वाले अर्थज्ञान को शब्द सिद्धि कहा है । इसी का दूसरा नाम सुतारसिद्धि भी है ।

शास्त्रीय विधिविधान के आधार पर ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु के मुख से आध्या-

त्मिक विद्याओं के अध्ययन से होने वाले आत्मज्ञान को अध्ययन सिद्धि कहते हैं, इसका दूसरा नाम तार भी है।

दुःखविघातस्वरूप सिद्धियाँ तीन प्रकार की हैं। जैसे—आध्यात्मिक दुःखविघात, आधिभौतिक दुःखविघात, आधिदैविक दुःखविघात। दुःखों के त्रैविध्य से उनका विघात भी तीन प्रकार का है। और दुःखविघात (दुःख ध्वंस) अन्तिम फल होने के नाते मुख्य सिद्धि है और इतर इसके साधन हैं अतः वे गौण हैं। इन तीन प्रकार की सिद्धियों के क्रमशः दूसरे नाम ये हैं—प्रमोद-मुदित-मोदमान।

स्वयं अन्वय व्यतिरेक के आधार पर तर्क के द्वारा सुनिश्चित किये हुए अर्थ (विषय) का ज्ञान यदि फिर से उसे दृढ़ करने के लिये अपने विद्वान् मित्रों की प्राप्ति (संसर्ग) से किया जाय तो उसे सुहृत् प्राप्ति सिद्धि कहते हैं। इसका दूसरा नाम "रम्यक" है।

संशय-विपर्यय आदि दोष ज्ञानों का निराकरण करते हुए जो विवेक ज्ञान की शुद्धि करना है उसे दानसिद्धि कहते हैं। और वह शुद्धि बहुत काल पर्यन्त होने वाले अभ्यास की परिपक्वता के बिना नहीं हो सकती है। इसका दूसरा नाम 'सदामुदित' सिद्धि भी है ॥ ५१ ॥

प्रश्न—पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ (प्रयोजन) के लिए जो एकादश गणात्मिका तथा पंचतन्मात्रात्मिका सृष्टि २४ वीं कारिका में बतलायी गयी थी उस द्विविध सृष्टि की क्या आवश्यकता है एकविध सृष्टि से ही जबकि पुरुष का वह अर्थ सिद्ध हो सकता है।

न बिना भावैर्लिङ्गं न बिना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ॥५२॥

गौ०—अथ तदुक्तं भावैरधिवासितं लिङ्गं, तत्र भावा धर्मादयोऽष्टावुक्ता बुद्धिपरिणामः विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः प्रत्ययसर्गो[1] लिङ्गञ्च तन्मात्रसर्गश्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्तः, तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ किमुभयविधसर्गेणेत्यत आह—भावैः प्रत्ययसर्गैर्विना[2] लिङ्गं न तन्मात्रसर्गो

---

[1] विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिरूपेण परिणता धर्मादयोऽष्टौ भावा एव भावाख्यो बुद्धिसर्ग इत्यर्थः।

[2] धर्मादिसहितैर्भोगसाधनैरिन्द्रियान्तःकरणादिभिर्विना।

न, पूर्वपूर्वसंस्कारादृष्टकारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलम्भस्य[1], लिङ्गेन तन्मात्रसर्गेण च विना भावनिर्वृत्तिर्न स्थूलसूक्ष्मदेहसाध्यत्वाद्धर्मादेः, [2]अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय, तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात्, तस्माद्भावाख्यो लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्तते सर्ग इति ॥ ५२ ॥

अन्वयः—भावैः, विना, लिङ्गम्, न, (भवति) लिङ्गेन, विना, न, भावनिर्वृत्तिः, तस्मात्, भावाख्यः, लिङ्गाख्यः, द्विविधः, सर्गः, प्रवर्त्तते ।

व्याख्या—भावैः=पूर्वोक्तधर्माधर्मादि-अष्टविधभावपदार्थैः विना=धर्माधर्मादि-अष्टविधभावपदार्थोपलक्षितबुद्धिसर्गं विना । लिङ्गम्=लिङ्गसर्गः । न सम्भवति । लिङ्गेन=तन्मात्रासर्गेण । विना । न भावनिर्वृत्तिः=भावपदार्थानाम् उत्पत्तिः । तस्मात्=प्रत्येकेन विना द्वयोः स्वरूपस्यैवानुपपन्नत्वात् । भावाख्यः=बुद्धिसर्गः । लिङ्गाख्यः=लिङ्गसृष्टिः, शब्दादितन्मात्रसृष्टिरित्यर्थः । द्विविधः । सर्गः=सृष्टिः । प्रवर्त्तते=उत्पद्यते ।

अयमाशयः तन्मात्रसर्गस्य पुरुषार्थसाधनत्वं स्वरूपञ्च न बुद्धिसृष्टिं विना भावितुमर्हति । एवं बुद्धिसर्गस्य स्वरूपं पुरुषार्थसाधनत्वञ्च न तन्मात्रसृष्टिं विना इत्युभयथा उभयविधः सर्ग आवश्यकः ॥ ५२ ॥

हिन्दी—धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्यरूप । अष्टविधभावभूतस्थूल पदार्थों के बिना सूक्ष्म शरीरप्रभृति लिङ्गपदार्थों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है । कारण कि संसार के सभी उत्पत्तिशील पदार्थों के विषय में ऐसा नियम है कि उनमें से किसी की उत्पत्ति धर्मनिबन्धन है तो किसी की अज्ञान से इत्यादि । अतः सूक्ष्म शरीर प्रभृति लिङ्ग पदार्थ भी कार्य होने के नाते भाव पदार्थों से सापेक्ष हैं जिससे भाव पदार्थों की सृष्टि आवश्यक है ।

---

[1] स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तेः ।

[2] ननु धर्मादयो भावाः शरीरापेक्षाः, शरीरं धर्माद्यपेक्षमित्यन्योन्याश्रयदोषादुभयस्याप्यसम्भव इत्यत आह—अनादित्वाच्चेति । सर्गप्रवाहस्यानादित्वादविच्छिन्नत्वात्, यथा बीजं प्रथममङ्कुरो वेत्यनिर्णयेऽपि नेतरेतराश्रयदोषस्तथा बुद्धेरनादितया तत्संयोगस्याप्यनादित्वेन संसारप्रवाहस्यानादितयोभयविधसर्गेणान्योन्याश्रयदोष इति भावः । अन्योन्याश्रयाभावे हेतुमाह—तत्तदिति ।

इसी प्रकार न लिङ्ग पदार्थों के बिना भाव पदार्थों की ही निर्वृत्ति (उत्पत्ति) हो सकती है, क्योंकि अनुभव सिद्ध है सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति होती है। लिङ्ग-सृष्टि सूक्ष्मसृष्टि कहलाती है और भावसृष्टि स्थूलसृष्टि कहलाती है। अतः तन्मात्रगणस्वरूप लिङ्ग सृष्टि ही भावभूतस्थूल सृष्टि का आधार है, जैसे न्याय में परमाणुओं को ही स्थूलपृथिवी-स्थूलजल आदि स्थूल सृष्टि का कारण माना है। इसलिए भावाख्य और लिङ्गाख्य दोनों प्रकार की सृष्टि आवश्यक है।

दूसरी बात यह भी है कि सांख्य ने पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ के लिये ही तो सृष्टि मानी है, सो उन दोनों अर्थों में से भोगात्मक पुरुष का अर्थ भोग्यशब्दादि-पञ्चतन्मात्राओं के बिना कैसे सम्पन्न हो सकता है। एवं भोग का साधन बाह्य दशविष इन्द्रियों को तथा अन्तःकरण मन को भी माना गया है इसलिये तन्मात्रसृष्टि आवश्यक है।

इसी प्रकार वे भोग के साधनभूतकरण धर्म-अधर्म आदि भावपदार्थों के बिना सम्भव नहीं हैं अतः भावपदार्थों की सृष्टि भी आवश्यक है। इस प्रकार दोनों सृष्टियाँ अन्योन्याश्रित हैं इसलिये दोनों आवश्यक हैं ।। ५२ ।।

भौतिक सृष्टि का विभाजन तथा विवेचन करते हैं—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ।। ५३ ।।

गौ०—किञ्चान्यत्—तत्र दैवमष्टप्रकारम्—ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि भूतान्येवं पञ्चविधस्तैरश्चः। मानुषयोनिरेकैव[1] इति चतुर्दश भूतानि ।। ५३ ।।

अन्वयः—दैवः, अष्टविकल्पः, भवति, तैर्यग्योनश्च, पञ्चधा, भवति, मानुष्यश्च, एकविधः, भवति, (इति) समासतः, भौतिकः, सर्गः, (अस्ति)।

व्याख्या—दैवः=देवानामयं दैवः देवसर्गः, देवतानां सृष्टिरित्यर्थः। अष्टविकल्पः=अष्टविधः। (अस्ति) यथा—(ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाचः। तैर्यग्योनश्च=तिर्यग्योनः, तिर्गग्जातीयसर्गः पञ्चधा। यथा—पशु-पक्षि-मृग-सर्प-वृक्ष आदि भेदात्मकः।

---

[1] ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षयैकत्वमिदं बोध्यम्, संस्थानस्य सर्वत्राविशेषादिति। इतीति। संक्षेपतोऽयं भौतिकः सर्ग उक्त इत्यर्थः।

मानुषकः=मनुष्याणामयं मानुषष्षकः, मनुष्यजातीयसर्गः एकविधः। (अत्र मनुष्यत्वरूपसामान्यलक्षणाप्रत्यासत्या सर्वेषां मनुष्याणामेकरूपेण बोधो जायते— "सर्वे मनुष्याः" इति, परन्तु देवजातीयानां तिर्यग्जातीयानां वा सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्या एकरूपेण बोधो न जायते; यथा घटत्वेन पटजातीयानां मठजातीयानां वा बोधो न भवति इति भावः) समासतः=संक्षेपतः। भौतिकः= स्थूलपञ्चभूतविकारात्मकः। सर्गः=इयं सृष्टिः।

हिन्दी—समास (संक्षेप) से भौतिक सृष्टि १४ प्रकार की है। जिसमें ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच यह आठ प्रकार की सृष्टि देवताओं की है। इनमें ब्रह्मसम्बन्धी ब्राह्मलोक तीन हैं, सत्यलोक-तपलोक-जनलोक। सत्यलोक में स्वयं ब्रह्म का वास है, अथवा "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" इस श्रुति से योग्य स्वयं ब्रह्मभूत जीव जो कि अप्रत्यक्षदर्शी ॐकार के उपासक परमहंसस्वरूप हैं निवास करते हैं। और इसके नीचे तपलोक में अभास्वर महाभास्वर सत्यमहाभास्वरसंज्ञक देवतालोग जो कि ब्रह्म के साक्षात् सन्निकृष्ट हैं तथा कुछ अहंकार की मात्रा वाले हैं निवास करते हैं। उसके नीचे तपलोक में जितेन्द्रियब्रह्मपुरोहित-ब्रह्मकायिक-ब्रह्ममहाकायिक अमरलोग निवास करते हैं। (२) और 'मह' नामक प्रजापति के लोक में कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अजनाभ, अमिताभसंज्ञक, एक हजार कल्प की आयु वाले देवता लोग वास करते हैं। (३) उसके नीचे वाले इन्द्र के स्वर्गनामक ऐन्द्रलोक में अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यसंपन्न-स्वेच्छोपात्त-विग्रह-एककल्प की आयु वाले कामलम्पट-देवता लोग वास करते हैं। (४) पैत्रलोक में पितृलोग रहते हैं। (५) मेरुपर्वत के पृष्ठभाग में गन्धर्वलोग रहते हैं। (६) गन्धमादनपर्वत के ऊपर अपने भाइयों के तथा यक्ष सम्बन्धी अपनी प्रजा के सहित कुवेर रहता है, यही यक्षों का याक्षलोक है। (७) वितललोक को छोड़कर अतल, सुतल, तलातल, रसातल आदि ६ लोकों में राक्षस लोग वास करते हैं। (८) और वितललोक में भूत-प्रेत-पिशाच-ब्रह्मराक्षस-कूष्माण्ड-विनायक आदि लोग रहते हैं और पशु, पक्षी, मृग, सर्प, वृक्ष, आदि तिर्यक् जातीय सृष्टि पांच प्रकार की है। और एक प्रकार की मानुषी सृष्टि है। इस प्रकार सब मिलाकर चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि है॥ ५३॥

चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि का संक्षिप्तरूप ऊर्ध्व-मध्य-अधोरूप से तीन प्रकार का है—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ।।५४।।

गौ०—त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते[1]—**ऊर्ध्वमिति** । अष्टसु देवस्थानेषु **सत्त्वविशालः** सत्त्वविस्तारः सत्त्वोत्कट ऊर्ध्वसत्त्व इति, तत्रापि रजस्तमसी स्तः ! **तमोविशालो मूलतः**, पश्वादिषु स्थावरान्तेषु सर्वः सर्गस्तमसाधिक्येन व्याप्तः, तत्रापि[2] सत्त्वरजसी स्तः । मध्ये मानुषे रज उत्कटं, तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते, तस्माद् दुःखप्राया मनुष्याः । [3]**एवं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः**, ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः । एवमभौतिकः सर्गो लिङ्गसर्गो भावसर्गो भूतसर्गो देवमानुषतैर्यग्योना इति, एष प्रधानकृतः षोडशविधः सर्गः[4] ।। ५४ ।।

अन्वयः—ऊर्ध्वम्, सर्गः, रात्त्वविशालः, मूलतः, सर्गः, तमोविशालः, मध्ये, सर्गः, रजोविशालः, (सोऽयं सर्गः) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः, (वर्त्तते) ।

व्याख्या—ऊर्ध्वम् = भुवःस्वर्महर्जनतपःसत्यलोकेषु । सत्त्वविशालः= सत्त्वगुणप्रधानः । सर्गः=सृष्टिः (वर्त्तते) मूलतः=पातालादि अधोलोकेषु । तमोविशालः=तमः-प्रधानः । सर्गः=सृष्टिः । (वर्तने) मध्ये=मध्यलोके पृथिव्याम् । रजोविशालः=रंजोगुणप्रधानः । सर्गः । (वर्त्तते) (सोऽयं त्रिविधः सर्गः) ब्रह्मादिस्तम्त्रपर्यन्तः=ब्रह्मादितः दैत्यदानवपशुपक्षिवृक्षलतादिपर्यन्तः सर्गः । तथा च चतुर्दशभुवनात्मकब्रह्माण्डमिदं सत्त्वविशालम् रजोविशालम् तमोविशालञ्चेति फलितः संक्षेपतस्त्रिविधः सर्गः ।। ५४ ।।

---

[1] भौतिकस्यास्य सर्गस्य चैतन्योत्कर्षनिष्कर्षतारतम्याभ्यामूर्ध्वाधोमध्यभावेन त्रैविध्यमाहोर्ध्वमिति मिश्राः । सत्त्वविशालशब्दस्य पर्यायान्तरैरर्थमाह—सत्त्वविस्तार इत्यादिना । सत्त्वगुणप्रधान इति यावत् । अत एवाह–तत्रापीति ।

[2] तमोबहुलस्तमःप्रधान इत्यर्थः । अत एवाह–तत्रापीति ।

[3] भूर्लोको धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च रजोगुणप्रधान इति मिश्राः । लोकस्थिति संक्षिपति—एवमिति ।

[4] लिङ्गभावभेदेन द्विविधोऽभौतिकः, अष्टविधो दैवः, पञ्चविधस्तैर्यग्योनः एकविधो मानुष्यक इति मिलित्वा चतुर्दशविधो भौतिकः सर्ग इत्येवं प्राधानिकः षोडशविध इत्यर्थः ।

हिन्दी—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र प्रभृति आठ प्रकार की स्वर्गादिलोकों से सम्बन्धित दैवसृष्टि है जिनका निरूपण हम ५३वीं कारिका में कर चुके हैं। त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्त्वगुणप्रधान होने के नाते सर्वदा सुखी हैं। और नीचे के लोकों से अर्थात् अतल-वितल आदि से सम्बन्धित सृष्टि भी यद्यपि त्रिगुणात्मक है परन्तु फिर भी वह तमोगुणप्रधान है इसलिये उन लोकों में रहने वाले जीव अपने अज्ञानवश सर्वदा दुःखी ही रहते हैं। एवं मध्यलोक भूलोक में वास करने वाली मनुष्यजातीय एक प्रकार की समस्त सृष्टि यद्यपि त्रिगुणात्मक है रजोगुणप्रधान। इस मध्यसृष्टि के अन्दर ब्रह्मा तथा मनु आदि से लेकर लता-वृक्षपर्यन्त समस्त सृष्टि का सन्निवेश हो जाता है। इस सृष्टि के अन्दर मनुष्य प्रभृति लोग भी शोक, मोह, रोग, आदि से हमेशा संत्रस्त और दुःखी रहते हैं॥ ५४॥

सृष्टि प्रकरण का निरूपण समाप्त कर यह समस्तसृष्टि दुःखरूप है अब इस बात को हम बतलाते हैं—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥ ॥५५॥

गौ०—[1]तत्रेति। तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु जराकृतं मरणकृतं चैव दुःखं **चेतनः** चैतन्यवान् पुरुषः प्राप्नोति[2], न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो न तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च। कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोति तद्विविनक्ति— **लिङ्गस्याविनिवृतैरिति**। यत् तन्महदादि[3] लिङ्गशरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तद्यावन्न निवर्त्तते संसारशरीरमिति यावत्, संक्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो **जरामरणकृतं** दुःखं प्राप्नोति, 'लिङ्गस्याविनिवृत्तेः, लिङ्गस्य

---

[1] तदेवं सर्गं निरूप्य तस्यापवर्गसाधनवैराग्योपयोगिनीं दुःखहेतुतामाह—तत्रेति।

[2] तस्माद्दुःखं स्वभावेन स्वतं एव सर्वो दुःखरूपः विवेकिनामिति अत्र पूरणीयम्। दुःखादिप्राकृतगुणानां कथं चेतनसम्बन्धितेत्यत उक्तं पुरुप इति। पुरि लिङ्गं शेते इति पुरुषः, लिङ्गं च तत्संबन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीति मिश्राः। एवं च जडप्रकृत्यादिषु वर्तमानस्यापि दुःखस्योपलब्धिः पुरुष एव भवतीत्याशयेनाह—न प्रधानमित्यादिना।

[3] स्थूलशरीर इत्यादिः। संसारशरीरं सूक्ष्मशरीरम्।

विनिवृत्ति[1] यावत्, लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति। तत् पुनः केन निवर्तते? [2]यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्–इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि येभ्योऽन्यः पुरुषो विसदृश इत्येवं ज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति ॥ ५५ ॥

अन्वयः—तत्र, लिङ्गस्याविनिवृत्तेः, चेतनः, पुरुषः, जरामरणकृतम्, दुःखम्, स्वभावेन, प्राप्नोति, तस्मात्, स्वभावेन, (भवति)।

व्याख्या—तत्र = देव-मनुष्य-तिर्यग्जातीयेषु नानाविधशरीरेषु। लिङ्गस्य= सूक्ष्मशरीरस्य। अनिवृत्तेः=निवृत्तेरभावात्। चेतनः। पुरुषः। जरामरणकृतम्=वृद्धत्वमृत्यकृतम्। दुःखम्। स्वभावेन। प्राप्नोति। तस्मात् कारणात्। दुःखम्। स्वभावेन। (भवति) ॥ ५५ ॥

हिन्दी—देव, मनुष्य, तिर्यग्जातीय नानाविधस्थूल शरीरों में सूक्ष्म शरीर के बराबर बने रहने से चेतन पुरुष जरा एवं मरणजन्य दुःख को स्वभावतः प्राप्त करता रहता है इसलिये चेतन पुरुषों को दुःख स्वाभाविकरूप से होता ही रहता हैं ॥ ५५ ॥

अब सृष्टि के कारण के विषय में प्राक्तन विभिन्न मतों का निराकरण करते हुए प्रकृति में सृष्टि कारणत्व का व्यवस्थापन करते हैं—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

गौ०—प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ[3] इत्युच्यते—परिसमाप्तौ निर्देशे च, प्रकृतिकृतौ[4] प्रकृतिकरणे प्रकृतिक्रियायां य आरम्भो महदादिविशेषभूत-

---

१. कुतः पुनर्लिङ्गसम्बन्धिदुःखं पुरुषस्येत्यत आह—लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेः। पुरुषाद्भेदाग्रहाल्लिङ्गधर्मान् दुःखादीन् आत्मन्यध्यवस्यति पुरुष इति मिश्राः।

२. ज्ञानेन लिङ्गनिवृत्तेः प्रकारमाह—यदेति।

३. उक्तस्य सर्गस्य कारणविप्रतिपत्तीर्निराकरोति इत्येष इति मिश्राः। सर्गस्य प्रकृतिमात्रारब्धत्वं वक्तुमुपसंहरति इत्येष इति नारायणतीर्थः।

४. प्रकृतिक्रियायां प्रधानव्यापारे य आरम्भो महदादिरूप इत्यनेन ब्रह्मादृष्टादिव्यापारत्वं तस्य निरस्तम्। अत्र प्रकृतिकृत इति प्रथमान्तपाठस्य मिश्रादिसम्मतत्वेऽपि एतन्मते सप्तम्यन्तस्यैव पाठस्य व्याख्यानात्स एवात्र मुद्रितः।

पर्यन्तः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीत्येष **प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं** पुरुषं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्भावं गतानां[1] विमोक्षार्थमारम्भः कथम्? **स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः**, यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति एवं प्रधानम्, पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति, स्वार्थ[2] इव न च स्वार्थः परार्थ एव, अर्थः शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः अन्ते च मोक्षेणेति प्रधानस्य प्रवृत्तिः, तथा चोक्तम्—'कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते' इति ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इत्येषः, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः आरम्भः, स्वार्थे, इव, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्, परार्थे, आरम्भो (भवति)।

व्याख्या—इत्येषः=पूर्वकथितः। महदादिविशेषभूतपर्यन्तः = महत्तत्त्वमारभ्य विशेष (स्थूल) भूतपर्यन्तः। आरम्भः=लिङ्गसर्गः, प्रकृतिं पुरुषञ्च विहाय त्रयोविंशति २३ तत्त्वात्मकः सर्गः। प्रकृतिकृतः=प्रकृत्या कृतो वर्त्तते।

किमर्थमयं सर्गः प्रकृत्या क्रियते? क्रियते चेत्, प्रवृत्तिशीलायास्तस्याः प्रकृतेः अनुपरमात् सर्वदैव सर्गः स्यादिति न कोऽपि पुरुषमुच्येत? इत्यत आह—"प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः" अर्थात् यथा ओदनकामनावान् कश्चित् पुरुष ओदनसम्पानाय ओदनपाके प्रवर्तते सिद्धौ च निवर्त्तते—एवमेव सर्वान् पुरुषान् मोचयितुं प्रवृत्ता प्रकृतिः यं पुरुषं मोचयति तं पुरुषं पुनर्न प्रवर्त्तते, तदिदमाह—'स्वार्थ इव' अर्थात् यथा कश्चिद् विचारवान् पुरुषः स्वार्थमिव परार्थमपि अर्थात् परस्य=स्वमित्रादेः अर्थमपि संपादयति, तथैव प्रकृतिरपि परस्य पुरुषस्यार्थंनिःस्वार्थभावेन संपादयति ॥ ५६ ॥

हिन्दी—महत्तत्त्व से लेकर पंचमहाभूतपर्यन्त यह २३ तत्त्वों वाली समस्त पूर्वोक्त सृष्टि एकमात्र प्रकृति के द्वारा ही रची गयी है, न ईश्वर से, न ब्रह्म से

---

[1] मध्ये प्रत्येकं चेतनपुरुषस्य विमोक्षार्थमित्यनुषज्यान्वयः।

[2] स्वार्थ इव न च प्रकृतेः कश्चित्स्वार्थः तस्या जडतया स्वार्थाभावात्, एवं च स्वार्थ इवेति दृष्टान्तः, तथा च यथा चेतना कान्ता 'अहं पुरुषेण भोग्या भवामीति' स्वकर्मभोगरूपे स्वार्थे प्रवर्तते तथा नेयं, किन्तु प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं परार्थं एव प्रवर्तते प्रकृतिः, तथा च प्रथमं भोगं प्रदाय पश्चात् परार्थं मोक्षमपि दास्यतीति भोगार्थमपवर्गार्थं चास्याः परार्थ एव आरम्भ इत्यर्थः। एतदभिप्रायेणैवाह अर्थ इत्यदिना।

अथवा न स्वभाव से ही। ईश्वर अशरीरी होने से, निर्व्यापार होने से सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है। ब्रह्म भी जगत् का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि वह अपरिणामी है। और यदि बिना कारण का ही अथवा स्वाभाविक ही जगत् को माना जाय तब या तो सर्वदा सत्तावान् यह जगत् हो जाय अथवा सत्ता के अभाववाला ही हो जाय।

अब प्रश्न यह होता है कि प्रकृति इस चराचर विश्व की रचना ही क्यों करती है, इसका उत्तर दिया गया कि—"प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्" अर्थात् प्रत्येक पुरुष को संसार के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कराने के लिये प्रकृति इस सृष्टि की रचना करती है।

फिर प्रश्न यह होता है कि यदि प्रकृति पुरुष को सांसारिक बन्धन से छुड़ाने के लिये ही सृष्टि की रचना करती है तब भी तो वह पुरुष को बन्धन से छुटकारा नहीं दिला सकती क्योंकि प्रकृति नित्य तथा प्रवृत्तिशील है, वह अपने सृष्टिकार्य से कभी भी उपरत नहीं हो सकती है, छुटकारा कुछ काल के लिये होने पर भी फिर बन्धनग्रस्त होना ही होगा।

इसका भी उत्तर दिया कि जिस प्रकार ओदनपाक की इच्छा वाला पुरुष ओदनपाक के सिद्ध हो जाने पर उससे निवृत्त हो जाता है, फिर पके हुए को नहीं पकाता, इसी प्रकार सब पुरुषों को सांसारिकबन्धन से छुड़ाने के लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति भी जिस पुरुष को मुक्त कर देती है उसे फिर बन्धन में नहीं डालती है।

और यह प्रकृति का आरम्भ जो पुरुष के भोगापवर्गार्थ होता है वह स्वार्थ के समान ही परार्थ भी है। कारण प्रकृति को किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं है॥ ५६॥

बिना किसी चेतन की सहायता के प्रकृति कैसे सृष्टि कर सकती है क्योंकि वह तो स्वयं जड़ है। यदि कहो कि चेतन जीव की सहायता से प्रकृति सृष्टि कर सकती है तो यह कहना भी व्यर्थ है—क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, अतः सर्वज्ञ ईश्वर को ही प्रकृति का सहायक मानना होगा, इससे ईश्वर का अङ्गीकार आवश्यक है—इस शंका का उत्तर देते हैं—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥५७॥

गौ०—[1]'अत्रोच्यतेऽचेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष इति' यथा त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्तव्य इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः? सत्यं, किन्त्वचेतनानानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा निवृत्तिश्च यस्मादित्याह—यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धि करोति, पुष्टे च वत्सं निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम् इति अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति

अन्वयः—यथा, वत्सविवृद्धिनिमित्तम्, अज्ञस्य, क्षीरस्य, प्रवृत्तिः, तथा, पुरुषविमोक्षनिमित्तम्, प्रधानस्य, प्रवृत्तिः, (भवति) ॥ ५७ ॥

व्याख्या—यथा। वत्सविवृद्धिनिमित्तम्=वत्सस्य पुष्ट्यर्थम्। अज्ञस्य=जडस्य। क्षीरस्य=दुग्धस्य। प्रवृत्तिः। (भवति) तथा। पुरुषविमोक्षनिमित्तम्=पुरुषस्य विमोक्षार्थम्। प्रधानस्य=प्रकृतेः। प्रवृत्तिः। भवति।

हिन्दी—जिस प्रकार गौ के स्तन से उसके बछड़े के जीवननिमित्त अथवा पुष्टिनिमित्त दूध स्वयं निकलने लगता है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति भी स्वयं ही अर्थात् किसी चेतन से निरपेक्ष होकर ही पुरुषों को सांसारिक बन्धनों से छुड़ाने के लिये प्रवृत्तिशील बनती हैं।

यदि यह कहा जाय कि वत्स की पुष्टि के निमित्त दूध की क्षरणात्मिका प्रवृत्ति जैसे ईश्वर की प्रेरणा से होती है, वैसे ही प्रकृति भी सृष्टिकार्य को ईश्वर की प्रेरणा से ही करती है।

इसका उत्तर सांख्य ने यही दिया कि चेतन की प्रवृत्ति सर्वत्र या तो स्वार्थ से होती है, या करुणा, परोपकार की दृष्टि से ईश्वर का सृष्टि करने में न तो स्वार्थ ही है क्योंकि वह पूर्णकाम है। न उसे करुणाभाव ही है, क्योंकि वह तो दुःखी के प्रति होता है, जीव को दुःख शरीर-इन्द्रिय आदि के रहने पर

[1] आक्षिपति अत्रोच्यत इत्यादिना। अचेतनायाः कथं प्रवृत्तिरित्याक्षेपाशयः। समाधत्ते सत्यमित्यादिना। क्षीरादीनामचेतननानामपि प्रवृत्तिदर्शनादचेतनप्रकृतेः प्रवृत्त्यङ्गीकारे न कश्चिद्दोष इति समाधानाभिप्रायः। ननु क्षीरप्रवत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धनतया प्रवर्त्तेश्चेतननियतत्वमव्याहतमेवेति दृष्टान्तासिद्धिरिति चेन्न। सांख्यमते ईश्वरसत्त्वे प्रमाणाभावात्, तत्सत्त्वेऽप्याप्तकामस्येशस्य प्रयोजनं विना प्रवर्तकत्वायोगात्। न च कारुण्यादिति वाच्यम्। सर्गात्प्राक् जीवानां दुःखित्वासम्भवेन तन्निवृत्तीच्छारूपकारुण्यस्यापि तत्रासम्भवात्तस्मात्स्वयमज्ञापि परप्रयोजनेनैव क्षीरादिवत् प्रवर्तते प्रकृतिरिति सुस्थिरम्।

ही होता है, सृष्टि के पूर्व में जीव को न शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं जिनसे दुःख हो, और न विषय ही है जिन्हें देखकर दुःख हो। न परोपकार ही संभावित है, क्योंकि सृष्टि के पूर्व कोई 'पर' ही नहीं है जिसके प्रति वह उपकार बुद्धि करे। अतः ईश्वर के अङ्गीकार की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—प्रकृति को क्या आवश्यकता है परार्थ सृष्टि करने की ?

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

गौ०—[1]किञ्च—यथा लोके इष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते गमनागमनक्रियासु कृतकार्यो निवर्तते[2], तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादिविषयोपभोगोपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा प्रधानं निवर्तते ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यथा, लोकः, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्, क्रियासु, प्रवर्त्तते, तद्वत्, अव्यक्तम्, पुरुषस्य, विमोक्षार्थम्, प्रवर्त्तते ।

व्याख्या—यथा लोकः । औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्—औसुक्यम्=इच्छा, तन्निवृत्त्यर्थम्=तच्छान्त्यर्थम् । क्रियासु=स्वस्वव्यापारेषु । प्रवर्तते । तद्वत्=तथैव । अव्यक्तम्=प्रकृतिः । पुरुषस्य । विमोक्षार्थम्=मुक्तये । प्रवर्तते=उभयविधां सृष्टिं करोति ॥ ५८ ॥

हिन्दी—संसार के लोग अपनी उन-उन वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा को पूरा करने के लिये जैसे अपने क्रियात्मक व्यापार में संलग्न रहते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को इस सांसारिक बन्धन से छुड़ाने के लिये अर्थात् पुरुष को मोक्षप्रदान करने के लिये सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होती है ॥ ५८ ॥

प्रश्न—माना कि प्रकृति की सृष्टिकार्य करने में प्रवृत्ति पुरुष के भोगापवर्गार्थ ही होती है परन्तु उससे निवृत्ति कैसे होगी ?

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥

---

[1] ननु प्रयोजनोद्देशेनैव प्रवृत्तिर्दृष्टा न चास्यास्तदस्तीत्यत्राह औत्सुक्येति । स्वार्थ इवेति यद्दृष्टान्तितं तद्विभजते इति मिश्राः ।

[2] औत्सुक्यमिच्छाविशेषस्य चेष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते इष्यमाणश्च स्वार्थः, इष्टलक्षणत्वात्फलस्येति भावः ।

गौ०—[1]किञ्चान्यत्-यथा नर्त्तकी शृङ्गारादिरसै रतिहासादिभावैश्च निबद्ध-[2]गीतवादित्रनृत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्त्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य[3] बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन, निवृत्तते।

अन्वयः—यथा, नर्तकी, रङ्गस्य, (आत्मानम्) दर्शयित्वा, निवर्त्तते तथा प्रकृतिः, पुरुषस्य, आत्मानम्, प्रकाश्य, विनिवर्तते।

व्याख्या—यथा। नर्तकी=नृत्यकारिणी काचिद् वेश्या। रङ्गस्य=रङ्गस्थान् पुरुषान्, [अत्र कर्मणि षष्ठी] (आत्मानम्) दर्शयित्वा। निवर्तते तथा। प्रकृतिरपि पुरुषस्य=पुरुषम्, [अत्रापि कर्मणि षष्ठी] आत्मानम्=आत्मस्वरूपम्। प्रकाश्य=प्रदर्श्य। विनिवर्तते।

अयमाशयः—शृङ्गारादिरसैः समन्विता नानाविधालङ्कारभूषिता विविधलीलाविलासशोभिता काचित् नर्तकी यथा नृत्यगीतादिभिरात्मनः स्वरूपं दर्शकजनेभ्यः प्रदर्श्य कृतार्था सती नृत्यात् निवर्तते तथैव प्रकृतिरपि पुरुषस्य स्वीयं तत्त्वज्ञानसमन्वितं वास्तविकं स्वरूपं प्रदर्श्य कृतार्था सती सृष्टिकार्यान्निवृत्ता भवति ॥ ५९ ॥

हिन्दी—जिस प्रकार कोई नर्तकी महफिल में बैठे हुए लोगों के समक्ष अपने हाव-भाव-लीला-विलास एवं शृंगारादि रसों से समन्वित नाच-गान आदि का प्रदर्शन करके तथा महफिल में बैठे हुए लोगों की "वाह-वाह" आदि आवाजों से अपने को कृतकृत्य समझ कर उस नृत्यकार्य से निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को अपने वास्तविक एवं तत्त्वज्ञानसमन्वित मोक्षप्रद स्वरूप का प्रदर्शन कर अपने को कृतकृत्य समझ कर सृष्टि कार्य से निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥

प्रश्न—माना कि प्रकृति पुरुष के भोगापवर्ग के लिये ही सृष्टि करती है, इसी बात को ईश्वरकृष्ण ने भी "परार्थ आरम्भः" कहकर सुदृढ़ किया, परन्तु

---

[1] ननु भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिर्निवृत्तिस्तु कथम्? तथा च पुरुषस्यानिर्मोक्ष एव स्यादत आह—रङ्गस्येति।

[2] मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् स्थानिलक्षणया सभ्यादेरित्यर्थः।

[3] केन रूपेण प्रकाशयति प्रकृतिरित्यत आह—बुद्धीति। इदमुपलक्षम्—पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्य निवर्तत इति।

यह बात दिमाग में इसलिये नहीं बैठती कि जब पुरुष स्वयं प्रकृति से उपकृत होता है तब क्या प्रकृति पुरुष से प्रत्युपकृत नहीं होगी ?

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ।। ६० ।।

गौ०—कथं को वाऽस्या निवर्त्तको हेतुः । तदाह—[1]नानाविधैरुपायैः प्रकृतिः पुरुषस्योपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः । कथम् ? देवमानुषतिर्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेन शब्दादिविषयभावेन, एवं नानाविधैरुपायैरात्मानं प्रकाश्याहमन्या त्वमन्य इति निवर्त्तते, अतो नित्यस्य तस्यार्थमपार्थकं चरति कुरुते[2] यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते नात्मनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरति करोत्यपार्थकम् । पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते ।। ६० ।।

अन्वयः—(प्रकृतिः) अनुपकारिणः, पुंसः, नानाविधैः उपायैः, उपकारिणी, (भवति) गुणवती, अगुणस्य, सतः तस्य, अर्थम्, अपार्थकम्, चरति ।

व्याख्या—प्रकृतिः । अनुपकारिणः=प्रत्युपकारविहीनस्य । पुंसः=पुरुषस्य । नानाविधैः । उपायैः । उपकारिणी=भोगापवर्गसम्पादनेन उपकारकर्त्री । भवति । गुणवती=सत्त्व-रजस्तमसोरूपगुणवती । अगुणस्य=निर्गुणस्य । सतः स्वरूपमात्रेण वर्तमानस्य । तस्य=पुरुषस्य । अर्थम्=भोगापवर्गरूपम् । अपार्थकम्=स्वार्थम् । चरति=प्रत्युपकारं विनैव सम्पादयति ।

हिन्दी—गुणवती तथा उपकारिणी प्रकृति प्रत्युपकारविहीन एवं स्वरूप मात्र से स्वस्थितिसम्पन्न निर्गुण उस पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ को महत्तत्त्व आदि साधनों के द्वारा निःस्वार्थरूप से ही सम्पन्न करती रहती है ।। ६० ।।

प्रश्न—जैसे नर्तकी दर्शकों के समक्ष अपना नाचना-गाना आदि दिखाने के बाद फिर भी दर्शकों की इच्छा होने पर अपना नृत्य प्रारम्भ कर देती है वैसे ही प्रकृति भी एक बार पुरुष को भोगापवर्ग कराने के पश्चात् फिर भोगापवर्ग

---

[1] ननु परार्थं प्रत्युकारसम्बधेन प्रवत्तिश्यते, नहि पुरुषात्प्रत्युपकारः प्रकृतेरत आह—नानाविधैरित्यन्ये ।

[2] यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽत्र एवानुपकारिणि स्वामिनि निष्फलाराधनः एवमियम्प्रकृतिरपि तपस्विनी गुणवत्युपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति मिश्राः ।

कराना प्रारम्भ कर दे ? तब तो पुरुष के भोगापर्गनिबन्धन सृष्टिक्रम हमेशा ही चलता रहेगा ?

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।६१।।

गौ०—निवृत्ता च किं करोतीत्याह[1]—लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं [2]न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एव मतिरुत्पन्ना, कस्मात् ? अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति, पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः ।

[3]तत्र सुकुमारतरं वर्णयति । केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ।।

[4]अपरे स्वभावकारणिका ब्रुवते—

'केन शुक्लीकृता हंसा मयूरा केन चित्रिताः । स्वभावेनैव—इति ।

[5]अत्र सांख्याचार्या आहुः—निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणः प्रजा

---

१. स्यादेतत् नर्तकी नृत्यं सभ्येभ्यो दर्शयित्वा धनप्राप्त्या निवृत्तापि पुनः कुतूहलात् यथा प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि पुरुषमात्यानं दर्शयित्वा विवेकेन निवृत्तापि पुनः प्रवर्त्स्यते इत्यत आह—प्रकृतेरिति मिश्रादयः ।

२. सुखदुःखमोहात्मकभोग्यविषयम् अन्यत् ईश्वरस्वभावकालादिकं लोके नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—येनेति । प्रकृतेः परार्थमतो हेतुं प्रश्नपूर्वकमाहाहमनेनेति ।

३. प्रकृतावेवोक्तविधं सुकुमारतरत्वं प्रदर्शयितुमन्यत्र तन्निषेधार्थं मतान्तराणि निरूपयतीत्यर्थः । अज्ञ इति । स्वसुखदुःखभोगयोरसमर्थोऽयं जीव ईश्वरप्रेरणयैव स्वर्गनरकसुखदुःखादि भुङ्क्तेऽत ईश्वरः कारणमितीश्वरकारणतामाह एकः ।

४. निषेध्यं मतान्तरमाह—अपर इति । हंसादीनां स्वभावतः शुक्लानां शुक्लत्वं स्वभावतश्चित्राणां मयूराणां चित्रत्वं च स्वभावेनैवातः स्वभावत एवास्य जगत उत्पत्तिरिति स्वभावकारणतावादोऽपरः ।

५. मतद्वयं निषेद्धुं सांख्याचार्यमतमाहात्रेति । सगुणतः—सुखदुःखादिगुणवत्यः । ईश्वरकारणतावादं निरस्य जीवकारणतावादमपि प्रसङ्गान्नि-

जायेरन् ? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव, तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते, यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव—इति, एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते, [१]निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। [२]तथा केषाञ्चित् कालः कारणमिति। उक्तं च—

'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥'

व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणम् नापि स्वभाव इति। [३]तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति, न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य, अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति। तथा च लोके रूढम्॥ ६१॥

अन्वयः—प्रकृतेः, सुकुमातरं, न, किञ्चित्, अस्ति, इति, मे, मतिः, भवति, या, दृष्टा, अस्मि, इति, पुनः, पुरुषस्य, दर्शनं, न, उपैति।

व्याख्या—प्रकृतेः = प्रकृत्यपेक्षया। सुकुमारतरम् = अतिलज्जाशीलम्, पुरुषान्तरदर्शनानपेक्षि इत्यर्थः। न। किञ्चित्। अस्ति। इति। मे=ईश्वरकृष्णस्य। मतिः=निश्चयः। भवति=वर्तते। या=प्रकृतिः। दृष्टा=पुरुषान्तरेण अहं दृष्टा। अस्मि। इति=एवं ज्ञात्वा। पुनः। पुरुषस्य। दर्शनम्। न। उपैति।

रस्यति कथं वेति। निर्गुणाज्जीवात्कथं सगुण कार्यजातमुत्पद्येतेत्यर्थः। प्रकृतिकारणतावादमुपसंहरति, तस्मादिति। सगुणकारणात्सगुणकार्योत्पत्तौ दृष्टान्तप्रदर्शनेन प्रकृतिकारणतावादं द्रढयति—यथेति।

[१] प्रकृतिकारणतावादं संस्थाप्येश्वरात्मकारणतावादनिराकरणमुपसंहरति—निर्गुण इति।

[२] कैश्चिदङ्गीकृते जगद्धेतौ कालेऽपि प्रकृतिवत्सुकुमारतरत्वं न सम्भवतीति प्रदर्शयितुं कालकारणतावादिमतं निरूपयति—तथेति। स्वभाववत् कालस्यापि व्यक्ततया तद्धेतुप्रधानकारणतावादेनैव तयोः कारणत्वं निरस्तमिति भावः। तेन तत्र, कथमन्तर्भाव इत्याह—स हीति।

[३] प्रकृतिहेतुतावादमुपसंहरति तस्मादिति।

अयं भावः–असूर्यम्पश्या हि कूलवधूः अत्यन्तं लज्जावती अत एव मन्दगामिनी अनवधानतया विमलितशिरोऽञ्चला निरीक्ष्यते चेत् पुरुषान्तरेण तदा इयम् एवं यतते यत् पुनर्मां परपुरुषो न पश्येत्, प्रकृतिस्तु कुलवधूतोऽप्याधिकाऽतिमन्दाक्षमन्थरा अतः पुनः कदापि परपुरुषस्य दृष्टिगोचरतां नायात्येव ।

हिन्दी—जिस प्रकार कोई अत्यन्त लज्जाशील कुलाङ्गना के मस्तक के ऊपर का घूँघट असावधानी के कारण जब हट जाता है और परपुरुष उसे देख लेता है तथा परपुरुष के देखने का ज्ञान उसे यदि हो जाता है तो फिर वह ऐसी लज्जा से नतानन होकर वहाँ से हटती है कि फिर परपुरुष के समक्ष नहीं आती है, इसी प्रकार कुलाङ्गना से अधिक लज्जाशील प्रकृति को पुरुष के द्वारा अपने देख लेने का ज्ञान जिस क्षण हो जाता है उसी क्षण से वह फिर कभी भी पुरुष के समक्ष नहीं आती, न आने से ही पुरुष का भोगापवर्ग तथा तन्निमित्तक सृष्टिक्रम दोनों ही बन्द हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

प्रश्न—जबकि सांख्य पुरुष निर्गुण और निर्विकार है तब पुरुष का मोक्ष कैसे हो सकता है, क्योंकि मोक्षशब्दार्थ है बन्धन से छुटकारा पाना, सो बन्धन के कारणीभूत वासना-क्लेश-कर्म आदि धर्म जबकि अपरिणामी पुरुष में संभव ही नहीं है तब उसे बन्धन कैसा ? और बन्धन के न होने से फिर मोक्ष भी कैसा ? तब फिर ५८ वीं कारिका में "पुरुषस्य विमोक्षार्थम्" अर्थात् पुरुष के मोक्ष के लिये ही सृष्टि होती है यह कथन सर्वथा व्यर्थ है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

गौ०—'पुरुषो मुक्तः पुरुषः संसारी' इति चोदिते आह[1]–**तस्मात् कारणात् पुरुषो न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति,** यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव नानाश्रया दैवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया वुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते मुच्यते संसरति चेति । [2]'अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति ?'

---

[1] ननु पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी कथमस्य सुखदुःखादिरूपो बन्धः, अतो न मोक्षोऽपि तस्य बन्धेन सामानाधिकरण्यात् तस्मात्पुरुषविमोक्षार्थमितिरिक्तं वचः, इतीमामाशङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्युपगच्छन्नपाकरोति तस्मादित्यन्ये ।

[2] यदि स्वभावतो मुक्त एव पुरुषस्तदा सर्वगतस्य तस्य कथं संसार इत्याशयेनाक्षिपति—अथेति । समाधत्ते—अप्राप्तेति । निःसङ्गत्वेन अप्राप्तस्य

अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति, तेन पुरुषो बध्यते पुरुषो मुच्यते पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते येन संसारित्वं विद्यते, सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानात् तत्त्वं पुरुषस्याभिव्यज्यते, तदभिव्यक्तौ केवलः शुद्धः मुक्तः स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति ।[1] 'अत्र यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति ततो मोक्षोऽपि नास्ति' । अत्रोच्यते—प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं त्रिविधकारणोपेतं त्रिविधेन बन्धेन बध्यते, उक्तञ्च—

'प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च ।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते ॥'

तत् सूक्ष्मं शरीरं धर्माधर्मसंयुक्तम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तस्मात्, अद्धा, कश्चित्, (पुरुषः), न संसरति, न वध्यते प्रकृतिरेव, नानाश्रया सती, संसरति, बध्यते, मुच्यते (च) ।

व्याख्या—तस्मात्=पुरुषस्य निर्गुणत्वात्–निर्धर्मकत्वाच्च । अद्धा=निश्चयेन कश्चित्=कोऽपि पुरुषः । न संसरति=न जन्ममरणवान् भवति, अर्थात् न जायते नापि म्रियते इत्यर्थः । न वध्यते=न वन्धनवान् भवति । न मुच्यते । किन्तु) प्रकृतिरेव । नानाश्रया सती=भोग्य-भोग-तत्साधन-तदायतनरूप अनेक आश्रया सती । संसरति । वध्यते । मुच्यते च ।

शब्दाद्युपभोगस्य प्राप्तये बुध्यादिभेदाग्रहात् तद्गतसंसरणमात्मनि प्रतीयते, भेदप्रतीतौ च पुरुषगतनिःसङ्गत्वादिप्रतीत्या स स्वतो न बद्धो न मुक्त इत्यादिपुरुषस्वरूपाभिव्यक्त्या स्वरूपप्रतिष्ठालाभ इति समाधानार्थः ।

[1] पुनः शङ्कते अत्रेति । यदि न पुरुषस्य बन्धः संसारापरपर्यायस्तदाऽऽत्मा मुक्त इति व्यवहारः कथं स्यात्, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वादिति शङ्काकर्तुरभिप्रायः । समाधत्ते अत्रोच्यते इति । असङ्गोऽप्यात्मा प्रकृतिसंसर्गादेवाभेदाग्रहमूलकं बन्धमात्मन्यारोपयति मुक्तिं च, यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात्तत्फलस्य च शोकलाभादेः स्वामिनि सम्भवात्, तथा च प्रकृतिगतयोरपि भोगापवर्गयोर्विवेकाग्रहात्पुरुषसम्बन्धसम्भवात् मुक्त आत्मेत्यादिव्यवहारोपपत्तिरिति समाधानार्थः प्रकृतिसङ्गात् कुत्रात्माऽऽत्मानं बध्नाति मोचयति चेत्यत्राह—यत्रेति । योनिविशेषे इत्यर्थः, त्रिविधकरणोपेतं–महदाद्याभ्यन्तरत्रिविधकरणसहितम्, तत् धर्माधर्मसंयुतं सूक्ष्मशरीरम्, बध्यते तत्र प्रकृत्यादिसंगादात्मनि बन्धादिव्यवहार इत्यभिप्रायः । त्रिविधबन्धमाह—प्राकृतेनेति ।

अयमाशयः—यथा युद्धपरायणसैनिकानां जयपराजयौ तेषां स्वामिनि राज्ञि उपचर्येते यत् "अमुकस्य राज्ञो जयो जातः" "अमुकस्य च पराजयः" इत्यादिरूपेण। एवमेव भोगापवर्गयोः परमार्थतः प्रकृतावेव सत्त्वेन प्रकृति-पुरुषयोरभेदज्ञाननिबन्धनौ तौ, पुरुषे तूपचर्येते, पुरुषो वद्धः-पुरुषो मुक्तः-पुरुषः संसरति इत्यादिरूपेण, अतः "पुरुषस्य—विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्" इत्युक्तं वचः सर्वथा समीचीनमेव ।। ६२ ।।

हिन्दी—पुरुष निर्गुण और निर्धर्मक है इसलिये यह निश्चय है कि कोई भी पुरुष न वन्धनग्रस्त होता है, न मुक्त ही होता है और न वह सांसारी ही वनता है। जन्ममरणरूपसंसार अथवा बन्धन और मोक्ष ये सब धर्म वास्तविक रूप में भोग्यभोग भोगसाधन भोगायतनभूत अनेक पदार्थों की आश्रयस्वरूपा प्रकृति के ही हैं, पुरुष में तो उनका एकमात्र उपचार ही होता है। जैसे युद्ध में वास्तव में जयपराजय सैनिकों की है राजा में तो उसका केवल आरोपमात्र ही है ।। ६२ ।।

प्रश्न—प्रकृति किन-किन साधनों के द्वारा पुरुष को बन्धन में डालती है और किन साधनों के आधार पर बन्धन से मुक्त करती है ?

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थम्प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।। ६३ ।।

गौ०—'प्रकृतिश्च बध्यते प्रकृतिश्च मुच्यते संसरतीति[1] कथम्' तदुच्यते—**रूपैः सप्तभिरेव**, एतानि सप्त प्रोच्यन्ते—धर्मो वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्, एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि, तैरात्मानं स्वं वध्नाति प्रकृतिः, आत्मना स्वेनैव सैव प्रकृतिः, पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः[2] कर्त्तव्य इति विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण ज्ञानेन ।। ६३ ।।

---

[1] किंसाधना प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्गा इति प्रश्नार्थः ।

[2] भोगापवर्गरूपः । एकरूपेणेति । तथा च भोगरूपपुरुषार्थं प्रति धर्मादिसप्तविधरूपैरात्मानं वध्नाति, स्वरूपावस्थानरूपापवर्गं प्रति चैकेन केवलेन ज्ञानरूपभावनैवात्मानं संसारान्मोचयतीति भावः । एतेन वैराग्याद्यभावेऽपि ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वमिति सूचितम्, विषयजिज्ञासारूपवैराग्यस्य विषयदोषदर्शनजन्यस्य भोगेष्वदीनतामात्रम्, तथा धीनिरोधरूपोपरमस्य च यमादिसाध्यस्य द्वैतादर्शनमात्रं फलं न मोक्षः 'तमेव विदित्वे'त्यादिश्रुतिषु तस्य ज्ञानैकलभ्यत्ववर्णनादिति तात्पर्यम् ।

अन्वय:—प्रकृतिः, पुरुषार्थं प्रति, आत्मना, सप्तभिरेव, रूपैः आत्मानम्, बध्नाति, सैव, च, एकरूपेण, आत्मानम्, विमोचयति ।

व्याख्या—प्रकृतिः । पुरुषार्थं प्रति=भोगापवर्गरूपपुरुषार्थं प्रति । आत्मना=स्वयमेव । सप्तभिः । रूपैः=धर्माधर्माज्ञान-वैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यैः आत्मानम्=स्वाम् । बध्नाति । सैव च=प्रकृतिरेव च । एकरूपेण=तज्ज्ञानात्मकेन एकरूपेण । आत्मानम् । विमोचयति ॥ ६३ ॥

हिन्दी—वह प्रकृति पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ को सम्पन्न करने के लिये स्वयं ही धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य इन सात प्रकार के भावात्मकरूपों के द्वारा अपने को बन्धन में डालती है। और वही प्रकृति ज्ञानात्मक भावभूत एकरूप के द्वारा अपने को स्वयं सांसारिक बन्धन से छुड़ा लेती है, अर्थात् फिर उसी पुरुष के लिये भोगापवर्ग का सम्पादन नहीं करती हैं ॥ ६३ ॥

प्रश्न—यह तत्त्वज्ञान कैसे होता है ?

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

गौ०—'कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ?–एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासादियं प्रकृतिरियं पुरुष एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते, नास्मि नाहमेव भवामि, [1]न मे मम शरीरं तत् यतोऽहमन्यः शरीरमन्यत्, [2]नाहमिति अपरिशेषम्, अहङ्काररहितम् अविपर्ययाद्विशुद्धं [3]विपर्ययः

---

[1] कर्तृत्वादिविशिष्टं बुध्यादिकमहं न भवामीत्यर्थः, अनेनात्मनि आरोपितं कर्तृत्वं विशुद्धज्ञानोत्पत्तौ निवर्तते इति सूचितम् । कर्तृत्वाभावे च स्वामित्वमपि निवर्तत इत्याशयेनाह—न मे इति । कर्ता हि स्वामित्वं लभेत तस्मास्वाभाविकी स्वामिता कुत इति मिश्राः । अभेदज्ञानपर्यन्तं मे मम शरीरमिति ग्रहात्स्वामित्वप्रतीतिर्भेदज्ञाने सा निवर्तत इति गौडपादाशयः ।

[2] आत्मनि अध्यवसायादिसर्वव्यापारनिषेधाच्च कर्तृत्वाभाव इत्याह—नाहमिति मिश्राः । अहङ्कारभेदग्रहविशिष्टमिति गौडपादाभिप्रायः । अपरिशेषं चरमम् इत्यन्ये ।

[3] संशयविपर्ययौ ज्ञानस्याविशुद्धी तद्रहितं विशुद्धमिति मिश्राः । व्यधिकरणप्रकाराभावाद्विशुद्धं प्रमात्मकं मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनक्षममिति चन्द्रिकाकारः ।

संशयोऽविपर्ययाद्विशुद्धं केवलं [1]तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यतेऽभिव्यज्यते ज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति ।। ६४ ।।

अन्वयः—एवम्, तत्त्वाभ्यासात्, नाऽस्मि, नाहम्, न मे, इति, अपरिशेषम्, अविपर्ययात्, विशुद्धम्, केवलम्, उत्पद्यते ।

व्याख्या—एवम्=पूर्वोक्तरीत्या । तत्त्वाभ्यासात्=पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वाभ्यासात् । नास्मि=अहमात्मा न व्यापारवान् किन्तु इन्द्रियादय एव व्यापारवन्तः । नाहम्=अहं न कर्त्ता, नाप्यहं भोक्ता इत्यादिरूपेण अहंप्रत्ययाभिमानशून्यः । न मे=स्वस्मिन् स्वामित्वभावशून्यः, (अर्थात् संसार के अन्दर मेरा कुछ नहीं है)। इति=व्यापारकर्त्तृत्व-स्वामित्व-आदिधर्मशून्योऽहम् इत्याकारकम् । अपरिशेषम्=यत्र किमपि अज्ञातं नावशिष्येत् एवंविधम् । अविपर्ययात्=संशय-विपर्यय-विकल्पात्मकज्ञानशून्यत्वात् । विशुद्धम्=सर्वथा परिशुद्धम् । केवलम्=प्रत्यात्मकम्, अथवा कैवल्यसंपादकम् । ज्ञानम्=तत्त्वज्ञानम् । उपद्यते ।। ६४ ।।

हिन्दी—इस प्रकार से २५ पदार्थतत्त्वों के ज्ञान का चिरकालपर्यन्त श्रद्धापूर्वक निरन्तर अभ्यास करने से "मैं पुरुष (आत्मा) व्यापार वाला नहीं हूँ अपितु इन्द्रियाँ आदि ही व्यापारवाली हैं, और न मैं कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मवाला ही हूँ क्योंकि निधर्मक होने से, संसार के अन्दर मेरा कुछ नहीं है, यह मेरा है, मैं इसका मालिक हूँ इत्यादि स्वामित्वविषयिणी भावनाओं से मैं सर्वथा दूर हूँ" इस प्रकार का कैवल्यप्रयोजकीभूत तथा संशय-विपर्यय आदि से शून्य होने के कारण जिस ज्ञान के हो जाने के पश्चात् और कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है वह विशुद्धतत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है ।। ६४ ।।

प्रश्न—इस तत्त्वज्ञान से फिर क्या होता है ?

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ।।६५।।

गौ०—'ज्ञाने पुरुषः किं करोति ?'— [2]तेन विशुद्धेन केवलज्ञानेन पुरुषः प्रकृतिं पश्यति प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यमवस्थितः [3]स्वस्थः यथा रङ्गप्रेक्षको-

---

[1] पुरुषमात्रगोचरमिति नारायणतीर्थाः । विपर्ययासम्भिन्नमिति वाचस्पतिमिश्राः ।

[2] किम्पुनरीदृशेन साक्षात्कारेण सिध्यतीत्याह—तेनेति मिश्राः ।

[3] अवस्थितयो निष्क्रियः । स्वस्थ इत्यत्र स्वच्छ इति पाठो मिश्रमते, तस्य च रजस्तमोऽकलुषया बुद्ध्याऽसम्भिन्न इत्यर्थस्तन्मते बोध्यः ।

ऽवस्थितो नर्त्तकीं पश्यति, स्वस्थः स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः स्वस्थानस्थितः ।. कथं भूतां प्रकृतिम् ? निवृत्तप्रसवां निवृत्तबुद्धयहङ्कारकार्याम्[1] अर्थवशात् सप्तमरूपविनिवृत्तां, निवर्तितपुरुषोभयप्रयोजनवशाद् यैः सप्तमीं रूपैर्धर्मादिभिरात्मानं वध्नाति तेभ्यः सप्तभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्तां प्रकृतिं पश्यति ।। ६५ ।।

अन्वयः—तेन, स्वच्छः, प्रेक्षकवत्, अवस्थितः, पुरुषः, अर्थवशात्, सप्तरूपविनिवृत्ताम्, निवृत्तप्रसवाम्, प्रकृतिम्, पश्यति ।

व्याख्या—तेन=पूर्वोक्तेन विशुद्धेन तत्त्वज्ञानेन । स्वच्छः=विशुद्धसत्त्वप्रधानः, निर्मल इत्यर्थः । प्रेक्षकवत्=उदासीनवत् । अवस्थितः=सर्वथानिष्क्रियः । पुरुषः । अर्थवशात्=विवेकख्यातिरूपप्रयोजनवशात् । सप्तरूपविनिवृत्ताम्=धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यात्मकसप्तभावभूतरूपरहिताम् । निवृत्तप्रसवाम्=भोगापवर्गरूपप्रसवशून्यां प्रकृतिम् । पश्यति ।। ६५ ।।

हिन्दी—पूर्वोक्त विशुद्धतत्त्वज्ञान के प्रभाव से निर्मल एवं निष्क्रिय वह चेतन पुरुष रजोगुण एवं तमोगुण की वृत्तियों से सर्वथा शून्य होकर उदासीनपुरुष के समान स्वस्थितिसंपन्न एवं भोगापवर्गरूपकार्य से नितान्त शून्य होता हुआ विवेकज्ञानरूपप्रयोजनवश धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्यरूप इन सात भावभूतपदार्थों से रहित प्रकृति को एकमात्र देखता रहता है ।। ६५ ।।

शंका—जब कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि और वियोग से मुक्ति होती है तब फिर प्रकृति को निवृत्तप्रसवा कैसे कहा जा सकता है क्योंकि प्रकृति-पुरुष का संयोग ही तो भोगापवर्गरूपप्रसव का कारण है और वह संयोग नित्य होने के नाते हमेशा मौजूद रहेगा अतः निवृत्तप्रसवा प्रकृति को पुरुष देखता है यह पूर्वोक्त कथन सर्वथा मिथ्या है ।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।।६६।।

---

[1] अहङ्कारकार्याणि भोगभेदसाक्षात्कारादयो निवृत्ता यस्यास्ताम् भोगविवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृत्या प्रसोतव्यौ तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिरिति भावः ।

गौ०— किञ्च—रङ्गस्थ इति [2]यथा रङ्गस्थ इत्येवमुपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषः तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता निवृता एका एकैव प्रकृतिः त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति मूर्तिविधे, जातिभेदात्, [3]एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति, **सति संयोगेऽपि तयोः** प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे **प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य** सृष्टेः चरितार्थत्वात् [4]प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, उभयत्रापि चरितार्थत्वात् सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं यः पुनः सर्ग इति [5]यथा दानग्रहणनिमित्तं उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धी भवति, एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति ।। ६६ ।।

अन्वयः—एकः, मया, दृष्टा, इति, उपेक्षकः, अन्या, अहम्, दृष्टा, इति, उपरमति, तयोः संयोगे सत्यपि, सर्गस्य, प्रयोजनम्, नास्ति ।

व्याख्या—एकः = उत्पन्नविवेकज्ञानवान् चेतनः पुरुषः । मया = पुरुषेण । दृष्टा = सर्वाङ्गसुन्दरी प्रकृति चाक्षुषप्रत्यक्षविषयीकृता । इति = एवं विचारवान् पुरुषः । उपेक्षकः = प्रकृतेरुपेक्षां करोति । अन्या = प्रकृतिः । अहम् = प्रकृतिः । दृष्टा = नितान्तं सम्यक्तया भुक्ता । इति = इत्येवं विचारयन्ती । उपरमति = उपरामं करोति, सर्वथा व्यापारशून्या भवतीत्यर्थः । 'एवं च सति' तयोः =

---

१. ननु नित्ययोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं तस्याः प्रसवनिवृत्तिस्तत्राह दृष्टेति ।

२. रङ्गस्थ इति पदं स्वयं व्याचष्टे यथेति । यथा रङ्गभूमिस्थः सभ्यः नर्तकीं दृष्ट्वा तद्दर्शनादुपरमते तथैक, पुरुषः स्वभिन्नेयं स्वसम्पर्काद् वध्नातीत्येवंगुणा प्रकृतिर्मया दृष्टेत्युपेक्षको भवति तद्भोगाद्यावेशरहितो भवतीत्यर्थः । एवं प्रथमपादं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे—तेनाहमिति । गौडपादमते 'दृष्टाहमित्युपरमत्येके'ति पाठोऽत्र द्रष्टव्यः, अत एवाह–एकेति । न द्वितीयेत्यत्र हेतुमाह -मूर्तिव्रध इति । प्रकृतेर्जात्या भेदस्वीकारे मूर्तिनाशस्य हेतुत्वात्तस्य च परिणामवादेऽसम्भवात् इति भावः ।

३. उत्तरार्धमवतारयति एवमिति । सति संयोगेऽपीत्यस्यार्थमाह—तयोरिति ।

४. सृष्टिचरितार्थत्वं विवृणोति—प्रकृतेरिति ।

५. पुनः प्रकृतिपुरुषयोः सृष्टिप्रयोजकसंसर्गाभावे दृष्टान्तमाह—यथेति ।

प्रकृतिपुरुषयोः । संयोगे सत्यपि=संयोगात्मकसम्बन्धे वर्तमानेऽपि । सर्गस्य=पुनः सृष्टेः, भोगापवर्गरूपप्रसवस्य वा । प्रयोजनम् । नास्ति ॥ ६६ ॥

हिन्दी—जिन चेतन पुरुष को विवेकज्ञान उत्पन्न हो चुका है वह चेतन पुरुष मैं सर्वाङ्गसुन्दरी उस प्रकृति को अच्छी प्रकार देख चुका हूँ अब और क्या देखना है ऐसा विचार करके उस प्रकृति की उपेक्षा कर देता है। इधर प्रकृति को भी मैं पुरुष के द्वारा देखी जा चुकी हूँ ऐसा ज्ञान जब हो जाता है उसी समय से वह अत्यन्त सुकुमारतर प्रकृति लज्जावश पुरुष के समक्ष नहीं आती है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के संयोग के मौजूद रहने पर भी सृष्टि का अथवा भोगापवर्गरूप प्रसव का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता है क्योंकि पुरुष भी प्रकृति की देखभाल कर कृतकृत्य हो चुका है। इधर प्रकृति तो अत्यन्त लज्जाशील होने के नाते इतने से ही उपराम को प्राप्त हो गयी कि मुझे पुरुष ने देख लिया ॥६६॥

प्रश्न—यदि तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने मात्र से ही पुरुष मुक्त हो जाय तो उसके पश्चात् ही उसके स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का विनाश हो जाय ? तब फिर अदेह पुरुष प्रकृति को कैसे देख पायेगा जैसा कि ६५वीं कारिका में "प्रकृति पश्यति पुरुषः" कहा है। यदि यह कहा जाय कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्धकर्मों के क्षीण न होने के नाते पुरुष मुक्त नहीं हो पाता है, तब यह प्रश्न होता है कि प्रारब्धकर्मों का क्षय होता कैसे है ? यदि भोग से होता है तो आश्चर्य की बात है कि "व्यक्त, अव्यक्त, ज्ञ इनके ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है" यह शास्त्रीय कथन ही मिथ्या हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जिन असंख्य प्रारब्धकर्मों के फलोपभोग का काल अभी तक निश्चित ही नहीं है उनका भोग से क्षय होगा और फिर मोक्ष यह कथन भी एक मनोरथमात्र ही है ?

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥६७॥

गौ०—'यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति ततो मम कस्मान्न भवती'-त्यत उच्यते [1]यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं भवति तथापि संस्कारवशाद्धृतशरीरो

---

[1] ननु 'भिद्यते हृदयग्रन्थिरि'त्यादिश्रुत्या तत्त्वज्ञानानन्तरमेव मुक्तो सर्वकर्मक्षयेण देहाद्यभावसूचनात् कथं प्रकृतिदर्शनम् । ज्ञाने देहस्य कारणत्वात्तत्राह सम्यगित्यपरे । ज्ञानस्य मोक्षे हेतुत्वप्रतिपादनाज्ज्ञानवतो मे मोक्षः कथं नेति गौडपादावतरणाशयः ।

योगी तिष्ठति कथम् ? **चक्रभ्रमवच्चक्रभ्रमेण** तुल्यम्, यथा कुलालश्चक्रं भ्रामयित्वा घटं करोति, मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य पुनः कृत्वा घटं पर्यामुञ्चति चक्रं भ्रमत्येव संस्कारवशात्, एवं **सम्यग्ज्ञानाधिगमा**दुत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य **धर्मादीनामकारणप्राप्तौ** एतानि सप्त रूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि, यथा नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि, एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि ।[1] धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्धृतशरीरस्तिष्ठति,[2] ज्ञानाद्वर्त्तमानधर्माधर्मक्षयः कस्मान्न भवति, वर्त्तमानत्वादेव, क्षणान्तरे क्षयमप्येति, ज्ञानं त्वनागतं कर्म दहति, वर्त्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानकरणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः ।। ६७ ।।

अन्वयः—सम्यग्ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनाम्, अकारणप्राप्तौ, संस्कारवशात्, चक्रभ्रमिवत्, धृतशरीरः सन्, तिष्ठति ।

व्याख्या—सम्यग्ज्ञानाधिगमात्—सम्यग्ज्ञानस्य=तत्त्वज्ञानस्य, अधिगमात्=प्राप्तेः । तत्त्वज्ञानप्राप्त्यनन्तरम् इत्यर्थः । धर्नादीनाम्=धर्माधर्मज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्यर्याणाम् । अकारणप्राप्तौ सत्याम् । संस्कारवशात्=अदृष्टवशात् । चक्रभ्रमिवत्=दण्डेन आरब्धा या चक्रस्य भ्रमिः=भ्रमणरूपा क्रिया, तद्वत् । दण्डनिवृतौ सत्यामपि वेगाख्यसंस्कारवशात् चक्रे यथा भ्रमणं भवति तद्वत् इत्यर्थः । धृतशरीरः=शरीरं धारयन् सन्नित्यर्थः । तिष्ठति ।।६७।।

हिन्दी—तत्त्वज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान हो जाने के पश्चात् धर्माधर्म की सुख-दुःख रूप फलोत्पादकत्व शक्ति अर्थात् बीजभाव ही नष्ट हो जाता है, जिससे कि धर्माधर्म तत्त्वज्ञानसम्पन्न जीवन्मुक्त पुरुष के लिये सुख-दुःख आदि फल के कारण ही नहीं हो पाते हैं । अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष कर्म करते हुए भी तादृशकर्म जन्य अदृष्ट जन्य जो सुख-दुःख आदि फल उनका भागी ही नहीं बनता है । केवल साधकपुरुष अपने प्रारब्धकर्मों के फलोपभोगकाल पर्यन्त कुछ बचे हुए संस्कारों के आधार पर एकमात्र शरीर को धारण किये रहता है जिस प्रकार कुम्हार के दण्ड से एकबार चक्र को चला देने के पश्चात् दण्ड को फिर

---

[1] उपसंहरति धर्मादीनामिति ।

[2] ननु ज्ञानेनातीतानागतधर्माधर्मकर्मसञ्चयविनाशवत् वर्तमानधर्माधर्मक्षयः कुतो न, येन ज्ञानानन्तरं शरीरपातेऽपवर्ग एव भवेत्कथं धृतशरीरतेत्याशयेनाक्षिप्य समाधत्ते–ज्ञानादित्यादिना । क्षणान्तरे–प्रारब्धभोगानन्तरम्, अत एवाहुः 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपी'ति ।

हटा लेने पर भी वेगाख्यसंस्कारवश चक्र कुछ काल तक वैसे ही पहले की तरह घूमता रहता है ।। ६७ ।।

प्रश्न—यदि कुछ अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों के संस्कार से भी ज्ञानी पुरुष को शरीर धारण ही करना पड़ता है तब फिर उस पुरुष का मोक्ष कब होता है ?

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ।।६८।।

गौ०—स किंविशिष्टो भवतीत्युच्यते—धर्माधर्मजनितसंस्कारक्षयात् प्राप्ते शरीरभेदे [2]चरितार्थत्वात् प्रधानस्य निवृत्तौ ऐकान्तिकमवश्यमात्यन्तिकमनन्तर्हितं कैवल्यं केवलभावान्मोक्षम्, उभयमैकान्तिकात्यन्तिकमित्येवं विशिष्टं कैवल्यमाप्नोति ।। ६८ ।।

अन्वयः—शरीरभेदे, प्राप्ते, (सति) चरितार्थत्वात्, प्रधानविनिवृत्तौ, (सत्याम्) ऐकान्तिकम्, आत्यन्तिकम्, उभयम्, कैवल्यम्, (पुरुषः) आप्नोति ।

व्याख्या—शरीरभेदे=स्थूलसूक्ष्मोभयविधशरीरस्य, भेदे=वियोगे । अर्थात् प्रारब्धकर्मणां भोगेन परिसमाप्तौ सत्यां पूर्वोक्त उभयविधशरीरस्य वियोगे इत्यर्थः । प्राप्ते । (सति) चरितार्थत्वात्—चरितौ=संपादितौ, अर्थौ=भोगापवर्गौ, यया सा चरितार्था, तत्त्वात् । प्रधानविनिवृत्तौ=प्रकृतिवियोगे सति । (पुरुषः) ऐकान्तिकम्=आवश्यकम् । आत्यन्तिकम्=अविनाशि । उभयम्=जीवन्मुक्तिपरममुक्तिद्वयम् । कैवल्यम्=मोक्षम् । आप्नोति=प्राप्नोति ।। ६८ ।।

हिन्दी—प्रारब्धकर्मों की भोग से समाप्ति हो जाने पर स्थूल और सूक्ष्म ये दोनों प्रकार के शरीर समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् जिन कर्मों के फलों का उपभोग अभी तक शुरू ही न हुआ है उन संचित कर्मों के फलों के उत्पादन की शक्ति तो तत्त्वज्ञान के द्वारा ही नष्ट हो चुकी है और जिन कर्मों (प्रारब्धकर्मों) के

---

१. ननु यद्युत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि तिष्ठति कदा तर्हि मोक्षं गच्छति तत्राह—प्राप्त इति अन्ये ।

२. भोगेन प्रारब्धक्षयतः शरीरस्य विनाशे प्राप्ते, चरितार्थत्वात् बुद्धितत्त्वादिद्वारा कृतभोगापवर्गलक्षणप्रयोजनत्वात् प्रधानस्य पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ संयोगाभावलक्षणलयेऽवश्यंभावि पुनर्दुःखजातीयानुत्पत्तिविशिष्टं चोभयविधं कैवल्यं मोक्षं प्रात्नोति पुरुष इत्यर्थः ।

फलों का उपभोग शुरू हो गया है वे कर्म भोग के द्वारा ही समाप्त हो चुके हैं। इसके बाद भोग्य के न रहने से दोनों प्रकार के शरीर भी समाप्त हो जाते हैं, और तब प्रकृति अपने को चरितार्थ (कृतकृत्य) भी समझने लगती है कि मैंने पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ को सम्पन्न कर दिया है अब मुझे कुछ कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह गया है, ऐसा सोच-विचार कर प्रकृति भी उस पुरुष से सर्वदा के लिये अलग हो जाती है और तब अकेला पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक-रूप से जीवन्मुक्ति और परममुक्ति दोनों प्रकार की मुक्तियों को प्राप्त कर लेता है ॥ ६८ ॥

प्रश्न—अब प्रश्न यह होता है कि इस सांख्य कथित अर्थज्ञान में श्रद्धा कैसे हो ?

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते तत्र भूतानाम् ॥६९॥
एतद् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥
शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥
सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

इति सांख्यकारिका समाप्ता ।

गौ०—[1]पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थज्ञानमिदं गुह्यं रहस्यं परमर्षिणा श्रीकपिलर्षिणा समाख्यातं सम्यगुक्तम् । यत्र ज्ञाने[2] भूतानां वैकारिकाणां स्थित्युत्पत्तिप्रलया अवस्थानाविर्भावतिरोभावाश्चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते, येषां विचाराव् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते[3]संवित्तिरिति ॥ ६९–७२ ॥

सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि ।
यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥

इति सांख्यकारिकाव्याख्या समाप्ता ।

---

[1] प्रेक्षावद्विश्वासार्थं परमर्षिपूर्वकत्वमस्य शास्त्रस्याह—पुरुषार्थ इति ।
[2] यज्ज्ञानार्थम्, यथा 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ती'ति मिश्राः ।
[3] अनुभवः प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारात्मकः ।

अन्वयः—इदम्, गुह्यम्, पुरुषार्थज्ञानम्, परमर्षिणा, समाख्यातम्, यत्र, भूतानाम्, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः, चिन्त्यन्ते ॥ ६९ ॥

व्याख्या—इदम्=सांख्यशास्त्रनिरूपितम् । गुह्यम्=गोपनीयम्, दुर्ज्ञेयमित्यर्थः । पुरुषार्थज्ञानम्=पुरुषस्य भोगापवर्गात्मक-अर्थज्ञानम् । परमर्षिणा=महर्षिणा कपिलेन । समाख्यातम्=कथितम् । यत्र=यस्मिन् सांख्यशास्त्रे । भूतानाम्=भूतेति उपलक्षणम्, महत्तत्त्वमारभ्य पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतपर्यन्तानाम् । स्थित्युत्पत्तिप्रलया, चिन्त्यन्ते=विचार्यन्ते ॥ ६९ ॥

हिन्दी—केवल सांख्यशास्त्र के अन्दर प्रतिपादित होने के नाते ही यह पुरुष का भोगापवर्गरूप अर्थविषयक ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है । इसका एकमात्र निरूपण महामुनि कपिल ने ही किया है । और इसी ज्ञान के प्रकरण में पृथिवी आदि पाँच महाभूतों की तथा अन्य प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय वगैरह का भी विचार किया गया है ॥ ६९ ॥

प्रश्न—हम महर्षि कपिल के कथन में तो श्रद्धा करते हैं, परन्तु ईश्वर कृष्ण के कथन में कैसे श्रद्धा करें ?

अन्वयः—मुनिः, अनुकम्पया, अग्र्यं, पवित्रम्, एतत्, आसुरये, प्रददौ, आसुरिरपि, पञ्चशिखाय, तेन, च, तन्त्रम्, बहुधा, कृतम् ॥ ७० ॥

व्याख्या—मुनिः=महामुनिः कपिलः । अनुकम्पया=कृपया । अग्र्यं=सर्वोत्तमम् । पवित्रम् । एतत्=सांख्यशास्त्रजन्यं ज्ञानम् । आसुरये=आसुरिनामकाय स्वशिष्याय । प्रददौ=प्रदत्तवान् । आसुरिरपि । पञ्चशिखाय=पञ्चशिखनामकाय स्वशिष्याय । (अनुकम्पया । प्रददौ) तेन च=पञ्चशिखाचार्येण च । तन्त्रम्=सांख्यशास्त्रीयं ज्ञानम् । बहुधा—बहुरूपेण बहुभिः ग्रन्थैः—अथवा बहुषु शिष्येषु । कृतम्=विस्तारितम् ॥ ७० ॥

हिन्दी—महामुनि महर्षि कपिल ने सर्वोत्तम तथा परमपवित्र इस सांख्यशास्त्रीय ज्ञान को बहुत ही कृपा करके आसुरि नामक अपने शिष्य को दिया, और आसुरि नें अपने प्रधान एवं परमप्रिय शिष्य पञ्चशिख को प्रदान किया । और पञ्चशिख ने बहुत से ग्रन्थों के आधार पर बहुत से शिष्यों के द्वारा इसका काफी प्रचार-विस्तार करवाया ॥ ७० ॥

प्रश्न—तब फिर ईश्वर कृष्ण को यह कैसे प्राप्त हुआ ?

अन्वयः—शिष्यपरम्परया, आगतम्, एतत्, आर्यमतिना, ईश्वरकृष्णेन, सिद्धान्तम्, सम्यक्, विज्ञाय, आर्याभिः, संक्षिप्तम् ।

व्याख्या—शिष्यपरम्परया । आगतम्=प्राप्तम् । एतत्=सांख्यशास्त्रसिद्धान्तम् । आर्यमतिना=विशुद्धमतिना । ईश्वरकृष्णेन । सिद्धान्तम्=सांख्यसिद्धान्तम् । सम्यक्=यथार्थरूपेण । विज्ञाय । आर्याभिः=आर्यछन्दोबद्धकारिकाभिः । संक्षिप्तम्=संक्षेपेण लिखितम् ॥ ७१ ॥

हिन्दी—विशुद्ध बुद्धि वाले ईश्वरकृष्ण ने पञ्चशिखाचार्य की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा से प्राप्त इस सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त को अच्छी प्रकार यथार्थरूप से जानकर आर्याछन्द में संबद्ध कारिकाओं के द्वारा संक्षेप में लिखा है ॥ ७१ ॥

अन्वयः—सप्तत्याम्, आख्यायिकाविरहिताः, परवादविर्जिताः च अपि, ये, अर्थाः, (सन्ति) ते, कृत्स्नस्य, षष्टितन्त्रस्य, किल, (सन्ति) ॥ ७२ ॥

व्याख्या—सप्तत्याम्=सप्ततिकारिकावति अस्मिन् ग्रन्थे । आख्यायिकाविरहिताः=कथा (कहानी) शून्याः । परवादविर्जिताः=परेषां–दर्शनान्तराणाम् (ये) वादाः–खण्डनानि, तैः विवर्जिताः रहिता इत्यर्थः । च । अपि । ये । अर्थाः=पञ्चविंशतिपदार्थस्वरूपा विषयाः । (सन्ति) ते=अर्थाः । कृत्स्नस्य=समस्तस्य । षष्टितन्त्रस्य=षष्टितन्त्रनामकग्रन्थस्य । किल=निश्चयेन । सन्ति ।

हिन्दी—इन आर्याछन्द से सम्बद्ध सत्तर (७०) कारिकाओं के अन्दर कथाकहानी आदि से शून्य तथा दर्शनान्तरसम्बन्धि मत-मतान्तरों के खण्डन से शून्य जिन पचीस पूर्वोक्त पदार्थों का ईश्वरकृष्ण ने निरूपण किया है वे सब पदार्थ षष्टितंत्रस्वरूप सांख्यदर्शन के हैं ॥ ७२ ॥

भाव्यभाववर्णिनी संस्कृत-हिन्दी टीका सहित

सांख्यकारिका समाप्त ।

मया ज्वालाप्रसादेन न्यायाचार्येण धीमता ।
यद् गुरुचरणावाप्तं तद् गुरुचरणेऽर्पितम् ॥

—: ० :—

Sri Sankaracharya
146
Vidyalaya ✱ Bharatiya

छात्रप्रिय परीक्षोपयोगी प्रश्नोत्तरात्मक ग्रन्थ

साहित्यदर्पणालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री रामजीलाल शर्मा
काव्यप्रकाश-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री रामजीलाल शर्मा
चन्द्रालोक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । मानवल्ली तथा बेताल
शिशुपालवध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १—४ सर्ग । अशोकचन्द्र गौड
सांख्यकारिकादर्शः (प्रश्नोत्तरात्मक) । श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठचारी
अलङ्कारशास्त्रस्येतिहासः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्रीपरमेश्वरदीन पाण्डेय
नलचम्पू-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १—५ उच्छ्वास परमेश्वरदीनपाण्डेय
वेदान्तसार-प्रदीपः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठचारी
मध्यसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमित्र शास्त्री
मृच्छकटिक-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा
वेणीसंहार-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री परमेश्वरदीन पाण्डेय
नैषध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । १—५ सर्ग । श्रीरमाशंकर मिश्र
दशरूपक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । त्रिलोकीनाथ द्विवेदी
सारसिद्धान्तकौमुदी । 'राका'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित ।
व्याख्याकर—लोकमणि दाहाल । १—४ भाग । प्रत्येक भाग
भारतीय-संस्कृतिः । लोकमणि दाहाल
संस्कृतभाषाविज्ञानम् । डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी
चन्द्रकलानाटिका-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री परमेश्वरदीन पाण्डेय
संस्कृतसाहित्येतिहासः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री परमानन्द शास्त्री
रसगङ्गाधर-हृदयम् । (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री ज्ञानचन्द त्यागी
लघुसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः)विजयमित्र शास्त्री
कादम्बरी-कलाप्रकाशः (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० नरेश झा
लघुमञ्जूषारहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । स्वामी रमेश्वर पुरी
शाकुन्तलरहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री त्रिलोकीनाथ द्विवेदी
मेघदूत-तत्त्वालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० अशोकचन्द्रगौड़ शास्त्री
महाभाष्यनवाह्निकालोचनम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमित्र शास्त्री
मुक्तावली-प्रकाशः (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रश्नोत्तरी) ।
श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठचारी
औचित्यविचारचर्चा-मञ्जरी (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० नरेश झा
वक्रोक्तिजीवितम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा
भारतीयसंस्कृति-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी